प्रकाशक—

मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी,
आ. व्य. परमश्रुतप्रभावक मंडल,
चौकसी चेम्बर खाराकुआ,
जौहरी [illegible]

मुद्रक—

रघुनाथ दीपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६, केळेवाडी, गिरगाँव बम्बई नं. ४.

इष्टोपदेशकी विषय-सूची

—:०:—

अन्य शिलालेखोंका भी उल्लेख किया जा सकता है, विस्तार भयसे यहाँ (टिप्पणीमें) उनकी मात्र क्रमांक संख्याको ही लिखा जा रहा है।

आचार्य देवनन्दी ' पूज्यपाद) के नामके विषयको और भी गहराईको लिये हुए जब देखते हैं तो उपरि लिखित बातकी पुष्टि पट्टावली[२], पुराणादिकोंसे भी होती है।

इस नामके ये ही आचार्य हुए हों ऐसी बात नहीं है। इनके बाद भी बहुतसे अन्य इसी नामके धारक ग्रंथ-रचयिता हुए हैं। पर साहित्य-सौष्ठव, विषय-विवेचनकी शैलीकी दृष्टिसे इनकी (इष्टोपदेशके रचयिताकी) रचनायें अनोखी और अनुपमेय हैं। एवं ये महान् वयाकरण थे अतः भाषापर एवं उसके साधनभूत शब्दोंपर इनका अच्छा आधिपत्य था। जिसकी छटा उनके ग्रथोंमे जहाँ तहाँ देखनेको मिलती है।

समय निर्णय—जैसा कि लिखा जा चुका हैं ' पूज्यपाद ' नामके कई ग्रंथनिर्माता हुए हैं। अतः इनके समयके विषयमें विवाद बना रहता है। कोई इन्हें पाणिनिका समकालीन बताते हुए ईस्वी सन्से पाँच शताब्दी पूर्वका घोषित करते हैं तो अन्य इन्हें विक्रमकी पाँचवीं छट्ठी शताब्दीका उद्घोषित करते हैं। भिन्न भिन्न विचारकोंके विचारोंका मन्थन कर निष्कर्ष रूपमें जो कहा जा सकता है—वह यह है कि राजा दुर्विनीत जोकि अविनीतका पुत्र था, तथा विक्रमकी छट्ठी शताब्दीमें शासन करता था। इसके शासन-कालमें इन्होंने इस भारत-भूमिको अपने जन्मसे पवित्र किया था।

पूज्यपादकी पावन कृतियाँ या ग्रन्थ सम्पत्ति—

पूज्यपादस्वामीने जो कुछ भी ज्ञानार्जन किया या बुद्धि-बलसे जाना, उसे उन्होंने शब्द-साधनके द्वारा गूँथ कर ग्रन्थोंके रूपमें रख दिया। इस दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि इन्होंने बहुत बड़े पैमानेपर साहित्य-निर्माणकी ओर प्रयत्न किया था। आपका बहुत कुछ साहित्य अनुपलब्ध है, फिर भी जो कुछ वर्तमानमें है, वह इस प्रकार है :—

(१) जैनेन्द्रव्याकरण—इसके नामसे ही व्यक्त होता है कि यह व्याकरणशास्त्र संबंधी ग्रंथ है। 'बोपदेव' नामक महान् वैयाकरणने अपने 'मुग्धबोध' नामक ग्रंथमें आठ महा व्याकरणोंमें इसका उल्लेख किया है। 'वर्द्धमान' नामक कविने भी देवनन्दि (पूज्यपाद) नामके आचार्यका नामस्मरण किया है। देवनन्दिके द्वारा रचित जैनेन्द्रव्याकरणकी महत्ताका एक यह भी प्रमाण है कि पाणिनिकेद्वारा निर्मित अष्टाध्यायीके अंतर्गत गणपाठमें इसका उल्लेख किया गया है।

(२) सर्वार्थसिद्धि—यह श्रीमदुमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रात्मक ग्रंथके अर्थको विशदरूपसे विवेचन करनेवाला महान् ग्रंथ हैं। और सबसे ज्यादः प्रामाणिक प्राचीन टीका है।

(३) समाधितंत्र या समाधिशतक—सौ श्लोकोंमें निबद्ध यह एक आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसमें आचार्यश्रीने बड़ा गम्भीरता एवं तात्त्विकपनेसे अध्यात्म विषयका विवेचन बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर किया है। इसपर संस्कृतमें अनेक उपयोगी टीकायें हुई हैं। हिन्दीमें भी इसका अर्थ लिखा जा चुका है।

---

(१) (अ) श्र. शि. ले. क्र. सं. १०५. श्र. शि. नि. ले. क्र. सं. ४०

(ब) श्र. शि. नि. ले. क्र. सं. १०८.

(२) (क) यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः॥ (नन्दिसंघ पट्टावली)

(ख) कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥ (आदिपुराण प्र. पर्व)

(३) प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥ (धनंजयकविकृत नाममाला)

(४) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न। पिशलीशाकटायनः। पाणिन्यअमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥-धातुपाठः

(४) इष्टोपदेश—यह छोटासा ग्रंथ है जिसको कि पाठक गण अपने हाथमें लिये हुए हैं। आप लोग देखेंगे कि इसमे आचार्य श्रीने गागरमें सागर भरनेकी उक्तिको चरितार्थ किया है। थोड़ेमें बहुत कुछ लिखा गया है। इसकी महत्ता, उपयोगितादिको देख पंडितप्रवर आशाधरजीने इसपर संस्कृतटीका लिखी जो कि इसमें सन्नद्ध है। वर्तमानमें तो इसके मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओंमें अनुवाद हो चुके हैं।

(५) दशभक्ति—प्रभाचन्द्राचार्यके "संस्कृताः सर्वे भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः" इस कथनके सहारे कहा जा सकता है कि इनके रचयिता पूज्यपादस्वामी हैं।

ग्रन्थान्तरोंमें जो यहाँ वहाँ उल्लेख मिलते हैं उनके सहारे ज्ञात होता है कि उपरिलिखित उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य विविध विषयके ग्रन्थोंका प्रणयन भी इन्होंने किया है। वैद्यक ग्रन्थोंके रचयिता ये थे, ऐसा-शिलालेखों, रसरत्नसमुच्चय, ज्ञानार्णवादि ग्रन्थोंके रचयिताओंने (बसवराज, शुभचन्द्राचार्यने) अपने अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है।

पूज्यपादस्वामीने 'जैनाभिषेक' नामक ग्रन्थका भी निर्माण किया था। छन्द-शास्त्र विषयक ग्रन्थकी भी इन्होंने रचना की थी ऐसा कहा जाता है। धवलाके वेदनाखण्डके उद्धरणसे ज्ञात होता है कि न केवल इनका व्याकरण, वैद्यक, छन्द-शास्त्र, आध्यात्मिक, साहित्यपर आधिपत्य था अपि तु न्याय-शास्त्रके भी ये एक अधिकारी विद्वान् थे। इन्होने **सारसंग्रह** नामके न्याय व सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथका निर्माण किया था। चंद्रय्य कवि द्वारा कन्नड भाषामें लिखित पूज्यपादचरितको यदि प्रमाणरूपमें ग्रहण किया जाय तो उसके सहारे कहा जा सकता है कि पूज्यपादस्वामीने 'अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण' एवं 'शांत्यक' की भी रचना की थी।

यद्यपि महापुरुषोंके विषयमें जितना भी लिखा जाय, वह सब थोड़ा है, किन्तु साहित्यकी वह भी आध्यात्मिक-साहित्यकी सृष्टि करनेवाला, निस्पृही, निर्ग्रन्थ, साहित्यिक महापुरुष अपने ढँगका अद्वितीय व्यक्ति हुआ करता है। वह सीधी, सरल, हितकारी भाषाका आश्रय ले सच्चे सुहृद्‌के समान मन-मानसमें निहित विचार-मणि-मुक्ताओंको सामने रख देता है और कहता है, कि यह स्वानुभूत—अच्छी तरहसे परखी हुई विचार मणियाँ हैं। इनसे मुझे शांति, संतोष, और आनन्दकी अनुभूति हुई है। चाहो तो तुम भी इनका रसास्वाद कर सकते हो। ऐसे ही महापुरुष पूज्यपादस्वामी थे। इन्होंने स्वान्तःसुखकी दृष्टिसे साहित्य-सृष्टि कर संसारके समस्त सत्त्वोंको समुन्नतिका सन्मार्ग सुझाया।

अंतमें अधिक न लिखते हुए, इनके साहित्यसे जो हृदय पटलपर विचार अंकित होते हैं वे ये हैं:-पूज्यपाद-स्वामी न केवल उच्च दर्जेके संयमी थे अपि तु महान् विद्वान् थे। उनका जन्म इस भारत-भूमिमें छट्ठी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुआ था। उनको व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, वैद्यक, छंदशास्त्र, ज्योतिष, साहित्यका ज्ञान ही नहीं अपि तु उनपर अधिकारपूर्ण विवेचना करनेका सामर्थ्य था। उन्होंने एकपक्षीय साहित्यका ही निर्माण नहीं किया। आध्यात्मिक साहित्यको भी सुन्दर शब्दोंमें सजाकर सामने रक्खा। ऐसे साहित्यिक योगी महापुरुषको शत शत नमन हों।

प्रस्तावना समाप्तिके पूर्व उन साहित्यिकोंका भी (पूज्य प्रेमीजी श्रीमोतीचन्द्रजी कोठारी एम. ए. आदिका) जिनके ग्रंथोंकी सहायता इस प्रस्तावनाके लिखनेमें ली है, आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस धृष्टताको क्षमा करेंगे कि अनुमति लिए विना उनके ग्रंथोंका सहारा ले लिया गया है।

पाठकगण! मानव जबतक मानवकी दशामें है, उसमें अपूर्णताका होना अवश्यंभावी है। अतः न चाहते हुए भी इसमें यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो उसमें मेरी अल्पज्ञताको ही कारण समझें। इतना अवश्य निवेदन है कि यदि महत्वपूर्ण कोई त्रुटि खटकती हो तो उसकी सूचना मुझे देवें, जिससे कि यदि अवसर मिला तो अगले संस्करणमें उन्हें अलग कर दिया जावे। जिन जिन सज्जनोंने अपने पद्यानुवादोंको इसमें समाविष्ट कराया है, उनको धन्यवाद देते हुए विराम लेता हूँ। विज्ञेषु किमधिकम्।

श्रीनशियाँजी-श्रीपार्श्वनाथ जैनमन्दिर इन्दोर,
अक्षयतृतीया वीर नि. सं. २४८०

आपलोगोंका ही
धन्यकुमार जैन

श्रीदेवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरणम् ।

१ कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते । विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥
—आदिपुराणे—श्रीजिनसेनाचार्यः

२ इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षणाः । देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यते गिरः कथम् ॥
—हरिवंशपुराणे—पुन्नाटसंघीय श्रीजिनसेनसूरिः

३ अचिन्त्य-महिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा । शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥
—पार्श्वनाथचरिते—श्रीवादिराजसूरिः

४ अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्तसंभवम् । कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥
—ज्ञानार्णवे—श्रीशुभचन्द्रसूरिः

५ लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते । देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥
—जैनेन्द्रमहावृत्तिः—श्रीअभयनन्दीः

६ पूज्यपादः सदा पूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम् । व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः ॥
—पाण्डवपुराणे—श्रीशुभचन्द्रभट्टारकः

७ यो देवनन्दि-प्रथमाभिधानो, बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥
—श्रवणबेल्गोल—शिलालेख नं० ४०

८ जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः ।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥
—श्रवणबेलगोल—शिलालेख नं० ४०

९ श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥
धृतिविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः ।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥
—श्रवणबेलगोल—शिलालेख नं० १०५

१० श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः ।
यत्पादधौतजल-संस्पर्शनप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥
—श्रवणवेल्गोल—शिलालेख नं० १०८

११ न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचःपूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥
—नगर ताल्लुका शिलालेख नं० ४६

१२ नमोऽस्तु पूज्यपादाय, समाधिस्वामिने त्रिधा । राजचन्द्राय याचेऽहं, समाधिबोध-साधनम् ॥ १ ॥
कलिकालानले दग्धान्, जीवांस्त्रातुं समुद्यतः । राजचन्द्रसुधासिन्धुर्नमस्तस्मै स्मराम्यहम् ॥ २ ॥
नमोऽस्तु पूज्यपादाय, समाधिस्वामिने सदा । समाधितन्त्रकर्तारं, नमामि समताधरम् ॥ ३ ॥
—श्रीराजचन्द्रः



नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्पूज्यपादस्वामि-विरचित

इष्टोपदेश

श्रीपण्डित–आशाधरकृत संस्कृतटीका

और

भाषानुवाद सहित.

उत्थानिका

टीकाकारका मंगलाचरण।

परमात्मानमानम्य, मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे।
इष्टोपदेशमाचष्टे, स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्॥

तत्रादौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्करोतीति परमात्मगुणार्थी ग्रन्थकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा;—

जो जिस गुणको चाहनेवाला हुआ करता है वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेषको नमस्कार किया करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। परमात्माके गुणोंको चाहनेवाले ग्रन्थकार पूज्यपादस्वामी हैं, अतः सर्वप्रथम वे परमात्माको नमस्कार करते हैं।

मूलग्रन्थकर्ताका मंगलाचरण।

श्लोक—यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

अन्वय—यस्य कृत्स्नकर्मणः अभावे स्वयं स्वभावाप्तिः तस्मै संज्ञानरूपाय परमात्मने नमः अस्तु।

टीका—अस्तु भवतु। किं तन्नमः नमस्कारः। कस्मै, तस्मै परमात्मने। परमः अनाधेयाप्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा तस्मै। किंविशिष्टाय, संज्ञानरूपाय सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महन्तृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च संपूर्णज्ञानं स्वपरावबोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै। एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह। यस्याभूत्कासौ स्वभावाप्तिः स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः। कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः तेन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना। क्व सति, अभावे शक्तिरूपतया विनाशे। कस्य, कृत्स्नकर्मणः। कृत्स्नस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मण आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तस्य॥ १॥

---

१ अनारोपि अप्रतिहत। २ ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्वेषादयो भावकर्माणि।

अथ शिष्यः प्राह स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति। स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति। अत्राचार्यः समाधत्ते;—

अर्थ—जिसको सम्पूर्ण कर्मोंके अभाव होनेपर स्वयं ही स्वभावकी प्राप्ति होगई है, उस सम्यक्ज्ञानरूप परमात्माको नमस्कार हो।

विशदार्थ—जिसे आत्माकी परतन्त्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं भावरूप समस्त कर्मोंके, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूपके द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जानेसे निर्मल निश्चल चैतन्यरूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति होगई है, उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्माको जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होनेसे समस्त सांसारिक प्राणियोंसे उत्कृष्ट है, नमस्कार हो॥ १॥

दोहा—स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव।
परमातम सर्वज्ञको, वंदो करि शुभ भाव॥ १॥

"स्वयं स्वभावाप्तिः" इस पदको सुन शिष्य बोला—कि "आत्माको स्वयं ही सम्यक्त्व आदिक अष्ट गुणोंकी अभिव्यक्तिरूप स्वरूपकी उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपायसे) हो जाती है? क्योंकि स्व-स्वरूपकी स्वयं प्राप्तिको सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है, और विना दृष्टान्तके उपरिलिखित कथनको कैसे ठीक माना जा सकता है? आचार्य इस विषयमें समाधान करते हुए लिखते हैं कि—

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥ २॥

अन्वय—यथा योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता तथा आत्मनः अपि द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तौ आत्मता मता।

टीका—मता अभिप्रेता लोकैः। कासौ, स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य, दृषदः सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य। केन, योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानामुपादानानां कारणानां योगेन[1] मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषद इत्यपिशब्दार्थः। मता कथिता। कासौ, आत्मता। आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं। कस्यां सत्यां, द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावानां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति समासः। सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशंसार्थः। प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं[3] द्रव्यादिस्वादीनां संपत्तिः संपूर्णता, तस्यां सत्याम्[2]।

अथ शिष्यः प्राह—तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति। भगवन् यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निष्फलत्वं स्यादभिप्रेतायाः[4] स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः। अत्राचार्यो निषेधमाह—नेति। वत्स! यत्त्वया शङ्कितं व्रतादीनामानर्थक्यं तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च व्यक्तीकर्तुं वक्ति;—॥ २॥

---

१ मेलापकेन। २ कस्यां सामग्र्यां विद्यमानायाम्। ३ प्रारब्धकार्यसाधकत्वम्। ४ वाञ्छितायाः।

अर्थ—योग्य उपादान कारणके संयोगसे जैसे पाषाणविशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्रीके मिलनेपर जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है।

विशदार्थ—योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारणके मिलनेसे पाषाणविशेष-जिसमें सुवर्णरूप परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है वह जैसे स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्यके लिए उपयोगी) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्पूर्णता होनेपर जीव (संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्यस्वरूप हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें, संसारी प्राणी जीवात्मासे परमात्मा बन जाता है।

दोहा—स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय।
सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय ॥ २ ॥

शंका—इस कथनको सुन शिष्य बोला कि भगवन्! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीके मिलनेसे ही आत्मा स्व स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, तब फिर व्रत समिति आदिका पालन करना निष्फल (निरर्थक) होजायगा। व्रतोंका परिपालन कर व्यर्थमें ही शरीरको कष्ट देनेसे क्या लाभ ?

समाधान—आचार्य उत्तर देते हुए बोले—हे वत्स! जो तुमने यह शंका की है कि व्रतादिकोंका परिपालन निरर्थक होजायगा, सो बात नहीं है, कारण कि वे व्रतादिक नवीन शुभ कर्मोंके बंधके कारण होनेसे, तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मोंके एकदेश क्षयके कारण होनेसे सफल एवं सार्थक हैं। इतना ही नहीं किन्तु व्रतसम्बन्धी अनुरागलक्षणरूप शुभोपयोग होनेसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है। और वह पुण्य स्वर्गादिक पदोंकी प्राप्तिके लिए निमित्त कारण होता है। इसलिये भी व्रतादिकोंका आचरण सार्थक है। इसी बातको प्रगट करनेके लिए आचार्य आगेका श्लोक कहते हैं—॥ २ ॥

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्बत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अन्वय—व्रतैः दैवं पदं वरं, बत अव्रतैः नारकं पदं न वरं प्रतिपालयतोः छायातपस्थयोः महान् भेदः अस्ति।

टीका—वरं भवतु। किं तत्? पदं स्थानं। किंविशिष्टं, दैवं देवानामिदं दैवं स्वर्गः। कैर्हेतुभिर्व्रतैर्व्रतादिविषयराग जनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबन्धनत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात्। तर्ह्यऽव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह। नेत्यादि। न वरं भवति। किं तत्? पदं। किंविशिष्टं, नारकं नरकसंबन्धि। कैः, अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनित, पातकैः। बतेति खेदे कष्टे वा। तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कायां तयोर्महदन्तरमिति दृष्टान्तेन प्रकटयन्नाह-- छायेत्यादि। भवति। कोऽसौ? भेदः अन्तरं। किंविशिष्टो, महान् बृहन्। कयोः, पथिकयोः किं कुर्वतोः, स्वकार्यवशान्नगरान्तर्गतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छन्तं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः। किंविशिष्टयोः सतो- छायातपस्थयोः। छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः। अयमर्थो, यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं

यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादिकृतानि स आत्मा जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति। अथ विनेयः पुनराशङ्कते। एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति भगवन्नैवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिर्भावविशुद्ध आन्तरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत् तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवान्तरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात्। अत्राप्याचार्यः समाधत्ते—तदपि नेति। न केवलं व्रतादीनामानर्थक्यं न भवेत्। किं तर्हि, तदध्यात्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थः। यतः—॥ ३ ॥

अर्थ—व्रतोंके द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतोंके द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूपमें बैठनेवालोंमें अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रतके आचरण व पालन करनेवालोंमें फर्क पाया जाता है।

विशदार्थ—अपने कार्यके वशसे नगरके भीतर गये हुए, तथा वहाँसे वापिस आनेवाले अपने तीसरे साथीकी मार्गमें प्रतीक्षा करनेवाले जिनमें से एक तो छायामें बैठा हुआ है, और दूसरा धूपमें बैठा हुवा है- दो व्यक्तियोंमें जैसे बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् छायामें बैठनेवाला तीसरे पुरुषके आनेतक सुखसे बैठा रहता है, और धूपमें बैठनेवाला दुःखके साथ समय व्यतीत करता रहता है। उसी तरह जबतक जीवको मुक्तिके कारणभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक प्राप्त होते हैं, तबतक व्रतादिकोंका आचरण करनेवाला स्वर्गादिक स्थानोंमें आनन्दके साथ रहता है। दूसरा व्रतादिकोंको न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादिक स्थानोंमें दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकोंका परिपालन निरर्थक नहीं, अपि तु सार्थक है।

दोहा—मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रतपालनसे देवपद, अव्रत दुर्गति कूप॥ ३॥

शंका—यहाँपर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है—"यदि उपरिलिखित कथनको मान्य किया जायगा, तो चिद्रूप आत्मामें भक्ति भाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा? कारण कि आत्मानुरागसे होनेवाला मोक्षरूपी सुख तो योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्तिकी प्राप्तिकी अपेक्षा रखनेके कारण बहुत दूर हो जायगा और बीचमें ही मिलनेवाला स्वर्गादि-सुख व्रतोंके साहाय्यसे मिल जायगा। तब फिर आत्मानुराग करनेसे क्या लाभ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मानुरागकी ओर आकर्षित न होते हुए व्रतादिकोंकी ओर ही अधिक झुक जायँगे।

समाधान—शंकाका निराकरण करते हुए आचार्य बोले, "व्रतादिकोंका आचरण करना निरर्थक नहीं है।" (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्म-भक्तिको अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथनकी पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं:—॥ ३॥

१ मध्यकस्थस्य। २ अयुक्तिः।

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्धे किं स सीदति ? ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र भावः शिवं दत्ते तत्र द्यौः कियद्दूरवर्तिनी, यः गव्यूतिं आशु नयति सः किं क्रोशार्धे सीदति ? ।

टीका—यत्रात्मनि विषये प्रणिधानं भावः कर्त्ता दत्ते प्रयच्छति। किं तच्छिवं मोक्षं, भावकाय भव्यायेति शेषः। तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्य भावस्य द्यौः स्वर्गः कियद्दूरवर्तिनी कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः। स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेकफलत्वात्। तथा चोक्तं—

"गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः। अनन्तशक्तिरात्मायं भुक्तिं मुक्तिं च यच्छति ॥
ध्यायोतोर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये। तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये" ॥

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—य इत्यादि। यो वाहीको नयति, प्रापयति। किं, स्वबाह्यं भारं। कां, गव्यूतिं क्रोशयुगं। कथम्, आशु शीघ्रं। स किं क्रोशार्धे स्वभारं नयन् सीदति खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः। महाशक्तावल्पशक्तेः सुघटत्वात्।

अथैवमात्मशक्तेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिपाद्यस्तत्फलजिज्ञासया गुरुं पृच्छति—स्वर्गे गतानां किं फलमिति ? स्पष्टं गुरुरुत्तरयति—॥ ४ ॥

अर्थ—आत्मामें लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियोंको मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देनेमें समर्थ आत्मपरिणामके लिये स्वर्ग कितनी दूर है ? न कुछ। वह तो उसके निकट ही समझो। अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यानसे पैदा किये हुए पुण्यका एक फलमात्र है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। तत्वानुशासनमें कहा है:— "गुरुपदेशमासाद्य०"

"गुरुके उपदेशको प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियोंके द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा चिंतवन करनेवालेको भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है। इस आत्माको अरहंत और सिद्धके रूपमें चिंतवन किया जाय तो यह चरमशरीरीको मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यानसे उपार्जित पुण्यकी सहायतासे भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिके भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है।"

श्लोककी नीचेकी पंक्तिमें उपरिलिखित भावको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

देखो जो भारको ढोनेवाला अपने भारको दो कोसतक आसानी और शीघ्रताके साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भारको आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? नहीं। भारको ले जाते हुए खिन्न न होगा। बड़ी शक्तिके रहने या पाये जानेपर अल्प शक्तिका पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा—आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।
दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर ॥ ४ ॥

---

१ बाह्यं। २ शिष्यः। ३ ज्ञातुमिच्छया।

इस प्रकारसे आत्म-शक्तिको जब कि स्वर्ग-सुखोंका कारण बतला दिया गया तब शिष्य पुनः कुतूहलकी निवृत्तिके लिये पूछता है कि "स्वर्गमें जानेवालोंको क्या फल मिलता है ?" ॥ ४ ॥

आचार्य इसका स्पष्ट रीतिसे उत्तर देते हुए लिखते हैं—

हृषीकजमनातङ्कं, दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव ॥ ५ ॥

अन्वय—नाके नाकौकसां हृषीकजं अनातङ्कं दीर्घकालोपलालितं सौख्यं नाके नाकौकसामिव (भवति) ।

टीका—वत्स अस्ति । किं तत्, सौख्यं शर्म । केषां, नाकौकसां देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेन्द्रियाणाम् । क्व वसतां, नाके स्वर्गे । न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ । किमतीन्द्रियं तत् नेत्याह—हृषीकजं हृषीकेभ्यः समीहितानन्तरमुपस्थितं निजं निजं विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादीन्द्रियेभ्यः सर्वाङ्गीणाह्लादनाकारतया प्रादुर्भूतं । तथा राज्यादिसुखवत् सातङ्कं भविष्यतीत्याशङ्कापनोदार्थमाह—अनातङ्कं, न विद्यते आतङ्कः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तक्षोभो यत्र । तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्यं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—दीर्घकालोपलालितं दीर्घकालं सागरोपमपरिच्छिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेयैर्देवदेवीस्वविलासिनीभिः क्रियमाणोपचारत्वोदुत्कर्षं प्रापितम् । तर्हि क्व केषामिव तदित्याह, नाके नाकौकसामिव स्वर्गे देवानां यथा अनन्योपममित्यर्थः । अत्र शिष्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं किमपवर्गप्रार्थनयेति । भगवन् यदि स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे सुखमस्ति । कीदृशम् ? उत्कृष्टं मर्त्यादिसुखातिशायि तर्हि किं कार्यं ? कया, अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया—अपवर्गो मे भूयादित्यभिलाषेण ॥ ५ ॥

एवं च संसारसुखे एव निर्बन्धं कुर्वन्तं प्रबोध्यं तत्सुखदुःखस्य भ्रान्तत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति ।—

अर्थ—स्वर्गमें निवास करनेवाले जीवोंको स्वर्गमें वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्गमें रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्गमें रहनेवाले देवोंका ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है । वह सुख इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाला आतंकसे रहित और दीर्घ कालतक बना रहनेवाला होता है ।

विशदार्थ—हे बालक! स्वर्गमें निवास करनेवालोंको न कि स्वर्गमें पैदा होनेवाले एकेन्द्रियादि जीवोंको । स्वर्गमें, न कि क्रीड़ादिकके वशसे रमणीक पर्वतादिकमें ऐसा सुख होता है, जो चाहनेके अनन्तर ही अपने विषयको अनुभव करनेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियोंसे सर्वांगीण हर्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है । तथा जो आतंक (शत्रु आदिकोंके द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिकके सुखके समान आतंकसहित नहीं होता है । वह सुख भोगभूमिमें उत्पन्न हुए सुखकी तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगनेमें आनेवाला भी नहीं है । वह तो उल्टा, सागरोपम कालतक, आज्ञामें रहनेवाले देव देवियोंके द्वारा की गई सेवाओंसे समय समय बढ़ा चढ़ा ही पाया जाता है ।

---

१ सर्वमङ्गं व्याप्नोति । २ आदेशवशवर्ति । ३ सेवा । ४ पूर्वपक्षं करोति । ५ इष्टम् । ६ शिष्यम् ।

'स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणियोंका (देवोंको) सुख स्वर्गवासी देवोंके समान ही हुआ करता है।' इस प्रकारसे कहने या वर्णन करनेका प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती है। लोकमें भी जब किसी चीज़की अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करनेके लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे "भैया! राम रावणका युद्ध तो राम रावणके युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।"

अर्थात्, इस पंक्तिमें युद्ध सम्बन्धी भयंकरताकी पराकाष्ठाको जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुखके विषयमें समझना चाहिये ॥ ५ ॥

दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य।
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनही के योग्य ॥ ५ ॥

शंका—इस समाधानको सुन शिष्यको पुनः शंका हुई और वह कहने लगा—"भगवन्! न केवल मोक्षमें, किन्तु यदि स्वर्गमें भी, मनुष्यादिकोंसे बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर "मुझे मोक्षकी प्राप्ति हो जावे" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे क्या लाभ?"

संसार सम्बन्धी सुखमें ही सुखका आग्रह करनेवाले शिष्यको 'संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।' यह बात बतलानेके लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

अन्वय—देहिनां सुखं दुःखं च वासनामात्रम् एव। तथाहि, एते भोगा आपदि रोगा इव उद्वेजयन्ति।

टीका—एतत् प्रतीयमानमैन्द्रियकं सुखं दुःखं चास्ति। कीदृशं वासनामात्रमेव जीवस्योपकारकत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देहादावुपेक्षणीये तत्त्वानवबोधादिदं ममेष्टमुपकारकत्वादिदं चानिष्टमपकारकत्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना इष्टानिष्टार्थानुभवानन्तरमुद्भूतः स्वसंवेद्य आभिमानिकः परिणामः। वासनैव न स्वाभाविकमात्मस्वरूपमित्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थो मात्र इति स्वयोगव्यवस्थापकश्चैवशब्दः। येषामेतदेवंभूतमस्तीत्याह। देहिनां देह एवात्मत्वेन गृह्यमाणोस्तीति देहिनो बहिरात्मानस्तेषाम्। एतदेव समर्थयितुमाह—तथाहीत्यादि। उक्तार्थसमर्थनार्थस्तथाहीति शब्दः। उद्वेजयन्ति उद्वेगं कुर्वन्ति, न सुखयन्ति ते, एते सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता भोगा रमणीयरमणीप्रमुखा इन्द्रियार्थाः। के इव, रोगा इव ज्वरादिव्याधयो यथा। कस्यां सत्याम्[1] आपदि दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादितदौर्मनस्यलक्षणायां विपदि। तथा चोक्तम्—"मुञ्चाङ्गं ग्लपयस्यलं क्षिप कुतोप्यक्षांश्च विद्भात्यदो, दूरे धेहि न हृष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम्। स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिपन्त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सू रतिम् ॥" अपि च "रम्यं हर्म्यं चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः। नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां सर्वारम्भास्तन्दुलाःप्रस्थमूलाः ॥"

---

१ त्यजनीये।

तथा । आतपे धृतिमता सह वध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन । सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यमित्यादि । अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामात्रमेव, नात्मनः स्वाभाविकमाकुलत्वस्वभावम् । कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानामपि भावानां दुःखहेतुत्वम् । एवं दुःखमपि । अत्राह पुनः शिष्यः—एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे, कथं न लक्ष्येते इति । खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते, लोकरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अत्राचार्यः प्रबोधयति—

अर्थ—देहधारियोंको जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है । देखो ! जिन्हें लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु आदिके द्वारा की गई बेचेनी) के समयमें रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियोंको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं । यही बात सांसारिक प्राणियोंके सुख-दुःखके सम्बन्धमें है ।

विशदार्थ—ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं । देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही हैं और न अपकारक ही । अतः परमार्थसे वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं । किंतु तत्त्वज्ञान न होनेके कारण—'यह मेरे लिये इष्ट है—उपकारक होनेसे ' तथा 'यह मेरे लिये अनिष्ट है—अपकारक होनेसे ।' ऐसे विभ्रमसे उत्पन्न हुए संस्कार जिन्हें वासना भी कहते हैं—इस जीवके हुआ करते हैं । अतः ये सुख दुःख विभ्रमसे उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं । ये सुख दुःख उन्हींको होते हैं जो देहको ही आत्मा माने रहते हैं । ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है— "मुंचांगं"

अर्थ—इस श्लोकमें दम्पतियुगलक वार्तालापका उलेख कर यह बतलाया गया है कि 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दुःखी होनेपर बुरे मालूम होते हैं ।' घटना इस प्रकार है—पति-पत्नी दोनों परस्परमें सुख मान, लेटे हुए थे कि पति किसी कारणसे चिंतित हो गया । पत्नी पतिसे आलिंगन करनेकी इच्छासे अंगोंको चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी । किन्तु पति जो कि चिंतित था, कहने लगा "मेरे अंगोंको छोड़, तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है । हट जा । तेरी इन क्रियाओंसे मेरी छातीमें पीड़ा होती है । दूर हो जा । मुझे तेरी चेष्टाओंसे बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है ।" "रम्यं हर्म्यं"

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युवतियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्याससे सताये हुए व्यक्तियोंको अच्छे नहीं लगते । ठीक भी है, अरे ! सारे ठाटबाट सेरभर चाँवलोंके रहनेपर ही हो सकते हैं । अर्थात् पेटभर खानेके लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है । अन्यथा (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं । इसी तरह और भी कहा है:—

"एक पक्षी (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरैयाके साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। रातके समय जब वह अपनी चिरैयासे बिछुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमाकी किरणोंको भी सहन (बरदाश्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोगमें चन्द्रमाकी ठंडी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मनके दुःखी होनेपर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।"

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आत्माका स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विभ्रमजन्य न होता तो संसारमें जो पदार्थ सुखके पैदा करनेवाले माने गये हैं वे ही दुःखके कारण कैसे हो जाते? अतः निष्कर्ष निकला कि देहधारियोंका सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है ॥ ६ ॥

दोहा—विषयी सुख दुःख मानते, है अज्ञान प्रसाद।
भोग रोगवत् कष्टमें, तन मन करत विषाद ॥ ६ ॥

शंका—ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि "यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगोंको उसी रूपमें क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं? आचार्य समझाते हुए बोले—

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अन्वय—हि मोहेन संवृतं ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदार्थानां स्वभावं न लभते।

टीका—न हि नैव लभते परिच्छिनत्ति धातूनामनेकार्थत्वाल्लभेर्ज्ञानेपि वृत्तिस्तथा च लोको वक्ति यथास्य चित्तं लब्धमिति। किं तत् कर्तृ, ज्ञानं धर्मधर्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा। कं, स्वभावं स्वोऽसाधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यन्तरेभ्यो[1] विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुर्भावो धर्मः स्वभावस्तम्। केषाम्, पदार्थानां सुखदुःखशरीरादीनाम्। किंविशिष्टं सत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने अभिभूतसामर्थ्यम्। केन, मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन। तथा चोक्तम्—"मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः। कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः॥

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्मणाभिभवो युक्त इत्यत्राह—मत्त इत्यादि। यथा नैव लभते। कोऽसौ, पुमान् व्यवहारी पुरुषः। कं, पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावम्। किंविशिष्टः सन्, मत्तः जनितमदः। कैर्मदनकोद्रवैः। पुनराचार्य एव प्राह, बिराधक इत्यादि। यावत् स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति। शरीरादीनां स्वरूपमलभमानः पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अमुमेवार्थं स्फुटयति;—

अर्थ—मोहसे ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूपको वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदों) के खानेसे नशैल-बे-खबर हुआ आदमी पदार्थोंको ठीक-ठीक रूपसे नहीं जान पाता है।

---

१ विजातीयेभ्योऽन्यपदार्थेभ्यः।

विशदार्थ—मोहनीयकर्मके उदयसे ढका हुवा ज्ञान वस्तुओंके यथार्थ (ठीक ठीक) स्वरूपका प्रकाशन करनेमें दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान पाता है। परस्परमें मेल रहनेपर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थको अन्य पदार्थोंसे जुदा जतलानेके लिये कारणीभूत धर्मको (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात् दो अथवा दोसे अधिक अनेक पदार्थोंके बीच मिले रहनेपर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थको अन्य पदार्थोंसे जुदा जान सके, उसी धर्मको उस पदार्थ-का स्वभाव कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—" मलविद्ध० "

" मल सहित मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकारसे न होकर अनेक प्रकारसे होता है, वैसे ही कर्मसम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक रूपसे न होकर अनेक रूपसे होता है। "

यहाँपर किसीका प्रश्न है कि—

अमूर्त्त आत्माका मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है?

उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि:—

" नशेको पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्यको खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त्त है फिर भी मूर्तिमान् कोद्रवादि धान्योंसे मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दबे जा सकते हैं। ॥ ७ ॥

शरीर आदिकोंके स्वरूपको न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकोंको किसी दूसरे रूपमें ही मान बैठता है।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तुस्वभाव न पात।
मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात ॥ ७ ॥

इसी अर्थको आगेके श्लोकमें स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

अन्वय—वपुः गृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्यस्वभावानि किन्तु मूढः तानि स्वानि प्रपद्यते।

टीका—प्रपद्यते। कोसौ, मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान्। कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि। किंविशिष्टानि, स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि। एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः। अयमर्थो, दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते। आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति। दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन। किंविशिष्टानि सन्ति, स्वानि

प्रपद्यत इत्याह। सर्वथान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि। किं किमित्याह। वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्धमस्ति। एवं गृहं धनं दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवोऽमित्राः। अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः। अत्रैतेषु वपुरादिषु मध्ये हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त उदाहरणं प्रदर्श्यते। अस्माभिरिति शेषः। तद्यथा,—

अर्थ—यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभावको लिये हुए पर-अन्य हैं, परंतु मूढ प्राणी मोहनीयकर्मके जालमें फसकर इन्हें आत्माके समान मानता है।

विशदार्थ—स्व और परके विवेकज्ञानसे रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थोंको आत्मा व आत्माके स्वरूप ही समझता रहता है। अर्थात् दृढ़तम मोहसे वश प्राणी देहादिकको (जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणरूप हरेक प्रकारसे आत्म स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले हैं) ही आत्मा मानता है और दृढतर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिकको आत्मा नहीं, अपि तु आत्माके समान मानता रहता है॥ ८॥

दोहा—पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ।
बिल्कुल निजसे भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ॥ ८॥

उत्थानिका—शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान् प्राणीके द्वारा उपकारक एवं हित समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे श्लोकमें उल्लिखित दृष्टांत द्वारा दिखाते हैं:—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥ ९॥

अन्वय—खगाः दिग्देशेभ्यः एत्यज नगे नगे संवसन्ति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्यवशात् देशे दिक्षु यान्ति।

टीका—संवसन्ति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति। के ते, खगाःपक्षिणः। क्व क्व, नगे नगे वृक्षे वृक्षे। किं कृत्वा, एत्य आगत्य। केभ्यो, दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दश देशास्तत्स्थैकदेशो अङ्गवङ्गादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः। तथा यान्ति गच्छन्ति। के ते, खगाः। कासु, दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमननियमनिवृत्त्यर्थस्तेन यो यस्यामेव दिशि गच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः। किं तर्हि, यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छन्तीत्यर्थः। कस्मात्, स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीयपारतन्त्र्यात्[1]। कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः। एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठन्ति तथा निजनिजपारतन्त्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गच्छन्तीति प्रतीहि। कथं भद्र तव दारादिषु हितबुद्ध्या गृहीतेषु सर्वथान्य-स्वभावेषु आत्मात्मीयभावः ? यदि खल्वेतदात्मका स्युः तदा त्वयि तदवस्थे एव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः। यदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं क्व प्रयोगमन्तरेणैव यत्र क्वापि प्रयान्तीति मोहग्रहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयम्। अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते अस्माभिरिति योज्यम्;—

अर्थ—देखो, भिन्न भिन्न दिशाओं व देशोंसे उड़ उड़कर आते हुए पक्षिगण वृक्षोंपर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होनेपर अपने अपने कार्यके वशसे जुदा जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

---

१ पराधीनतया।

विशदार्थ—जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, बंग आदि विभिन्न देशोंसे उड़कर, पक्षिगण वृक्षोंपर आ बैठते हैं, रात रहनेतक वहीं बसेरा करते हैं और सवेरा होनेपर अनियत दिशा व देशकी ओर उड़ जाते हैं—उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देशसे आये हों उसी ओर जावें। वे तो कहींसे आते हैं और कहींको चले जाते हैं—वैसे ही संसारीजीव भी नरकगत्यादिरूप स्थानोंसे आकर कुलमें अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं, और फिर अपने अपने कर्मोंके अनुसार, आयुके अंतमें देवगत्यादि स्थानोंमें चले जाते हैं। हे भद्र! जब यह बात है तब हितरूपसे समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकोंमें तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरोंको कैसे प्राप्त हो जाते? यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोगके विना ही ये जहां चाहे कैसे चले जाते? अतः मोहनीय पिशाचके आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखनेकी चेष्टा कर॥ ९॥

दोहा—दिशा देशसे आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।
प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त॥ ९॥

उत्थानिका—आचार्य आगेके श्लोकमें शत्रुओंके प्रति होनेवाले भावोंको 'ये हमारे शत्रु हैं' 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं, साथ ही ऐसे भावोंको दूर करनेके लिये प्रेरणा भी करते हैं:—

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति।
त्र्यंङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते॥ १०॥

अन्वय—विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति, त्र्यङ्गुलं पद्भ्यां पातयन् दण्डेन स्वयं पात्यते।

टीका—कथमित्यरुचौ, न श्रद्दधे कथं परिकुप्यति समन्तात् कुप्यति। कोऽसौ, विराधकः अपकारकर्ता जनः। कस्मै, हन्त्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय। "सुखं वा यदि वा दुःखं, येन यस्य कृतं भुवि। अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः॥"

इत्यभिधानादन्याय्यमेतदिति भावः[1]। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे। अङ्गुलमित्यादि। पात्यते भूमौ क्षिप्यते। कोऽसौ, यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी[2] जनः। केन, दण्डेन हस्तधार्यकाष्ठेन। कथं, स्वयं पात्यप्रेरणमन्तरेणैव। किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्, त्र्यङ्गुलं अङ्गुलित्रयाकारं कचाद्याकर्षणावयवम्। काभ्यां, पद्भ्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता[3] न करणीया।

अत्र विनेयः पृच्छति। हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः पुरुषः किमात्मनेहितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः। अत्राचार्यः समाधत्ते,—

अर्थ—जिसने पहिले दूसरेको सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमानमें अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों गुस्सा करता है? यह कुछ जँचता नहीं। अरे! जो त्र्यङ्गुलको पैरोंसे गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा।

---

१ अयुक्तं। २ अविचार्यकार्यकर्त्ता। ३ पण्डितेन।

विशदार्थ—दूसरेका अपकार करनेवाला मनुष्य, बदलेमें अपकार करनेवालेके प्रति क्यों हर तरहसे कुपित होता है ? कुछ समझमें नहीं आता।

भाई ! सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है कि संसारमें जो किसीको सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःखको प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरेको दुःख पहुँचाया है तो बदलेमें तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करनेकी क्या बात है ? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो विना विचारे काम करनेवाला पुरुष है वह तीन अंगुलीके आकार वाले कूड़ा कचरा आदिके समेटनेके काममें आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरोंसे जमीनपर गिराता है तो वह विना किसी अन्यकी प्रेरणाके स्वयं ही हाथमें पकड़े हुए डंडेसे गिरा दिया जाता है। इसलिये अहित करनेवाले व्यक्तिके प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमानोंको, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

दोहा—अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।
दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध ॥ १० ॥

यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकोंमें राग और शत्रुओंमें द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित—बिगाड़ करता है ? जिससे उनको (राग-द्वेषोंको) अकरणीय—न करने लायक बतलाया जाता है ? आचार्य समाधान करते हैं:—

रागद्वेषद्वयीदीर्घ-नेत्राकर्षणकर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

अन्वय—असौ जीवः अज्ञानात् रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा संसाराब्धौ सुचिरं भ्रमति।

टीका—भ्रमति संसरति। कोऽसौ, असौ जीवश्चेतनः। क्व, संसाराब्धौ संसारः द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो भवोऽब्धि समुद्र इव दुःखहेतुत्वाद् दुस्तरत्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात्। कियत्कालं, सुचिरं अति-दीर्घकालम्। केन, रागेत्यादि। राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी। रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयीग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं। तथा चोक्तम्—

" यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः। उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यधिकं मनः ॥ "

अपि च। आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ। अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते। सा दीर्घनेत्रायतमन्थाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्यापकर्षणकर्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्यापकर्षणत्वाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मन्थदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा नेत्राकर्षणव्यापारे मन्थाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रान्तो लोके प्रसिद्धस्तथा स्वपरविवेकानवबोधात् यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचारात्तज्जनितकर्मबन्धेन संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रान्तो भ्रमति भ्रमिष्यति। भ्रमतीत्यवतिष्ठन्ते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात्। उक्तं च।

" जो खलु संसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो। परिणामादो कम्मं, कम्मादो हवदि गदि सु गदी ॥ १२८ ॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते। तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥
जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालंमि। इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा " ॥ १३० ॥
पंचास्तिकाय। २।

---

१ वर्तमानात्।

अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुङ्क्ते । तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष इति भगवन् संसारेऽपि, न केवलं मोक्ष इत्यपि-शब्दार्थः। चेज्जीवः सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न कश्चित् दोषो दुष्टत्वं संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैव अभीष्टत्वात् येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरन्नित्यत्राह । वत्स !

अर्थ—यह जीव अज्ञानसे रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियोंकी खींचतानीमें संसाररूपी समुद्रमें बहुत कालतक घूमता रहता है—परिवर्तन करता रहता है ।

विशदार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंचपरावर्तनरूप संसार जिसे दुःखका कारण और दुस्तर होनेसे समुद्रके समान कहा गया है, उसमें अज्ञानसे-शरीरादिकोंमें आत्मभ्रान्तिसे अनिदीर्घ कालतक घूमता (चक्कर काटता) रहता है । इष्ट वस्तुमें प्रीति होनेको राग और अनिष्ट वस्तुमें अप्रीति होनेको द्वेष कहते हैं । उनकी शक्ति और व्यक्तिरूपसे हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसलिये आचार्योंने इन दोनोंकी जोड़ी बतलाई है। बाकीके दोष इस जोड़ीमें ही शामिल हैं, जैसा कि कहा गया है:—" यत्र रागः पदं धत्ते० "

" जहाँ राग अपना पाँव जमाता है, वहाँ द्वेष अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है । इन दोनों (राग-द्वेष) के आलम्बनसे मन अधिक चंचल हो उठता है । और जितने दोष हैं, वे सब राग-द्वेषसे संबद्ध हैं, " जैसा कि कहा गया है—" आत्मनि सति परसंज्ञा० "

" निजत्वके होनेपर परका ख्याल हो जाता और जहाँ निज-परका विभाग (भेद) हुआ वहाँ निजमें रागरूप और परमें द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनोंके होनेसे अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं। कारण कि वे सब इन दोनोंके ही आश्रित हैं । "

वह राग-द्वेषकी जोड़ी तो हुई मंथानीके डंडेको घुमानेवाली रस्सीके फाँसाके समान और उसका घूमना कहलाया जीवका रागादिरूप परिणमन। सो जैसे लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरीके खींचा-तानीसे जैसे मंथराचल पर्वतको समुद्रमें बहुत कालतक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्वपर विवेकज्ञान न होनेसे रागादि परिणामोंके द्वारा जीवात्मा अथवा कारणमें कार्यका उपचार करनेसे, रागादि परिणामजनित कर्मबंधके द्वारा बँधा हुआ संसारीजीव, अनादिकालसे संसारमें घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा । मतलब यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकर्मोंसे द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता ' ऐसा हमेशासे चला आ रहा है और हमेशा तक चलता रहेगा । सम्भव है कि किसी जीवके यह रुक भी जाय । जैसा कि कहा गया है:—" जो खलु संसारत्थो० "

" जो संसारमें रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेष आदिरूप परिणमन) होता है, उस परिणामसे कर्म बँधते हैं । बँधे हुए कर्मोंके उदय होनेसे मनुष्यादि गतियोंमें गमन होता है, मनुष्यादि गतिमें प्राप्त होनेवालेको (औदारिक आदि) शरीरका जन्म होता है, शरीर होनेसे

---

१ शिष्यः पृच्छति ।

इंद्रियोंकी रचना होती है. इन इंद्रियोंसे विषयों (रूप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं। इस प्रकार जीवका संसाररूपी चक्रवालमें भवपरिणमन होता रहता है. ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो अनादिकालसे होते हुए अनन्तकालतक होता रहेगा, हाँ, किन्हीं भव्यजीवोंके उसका अन्त भी हो जाता है।" ॥ ११ ॥

दोहा मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार
राग द्वेष अज्ञानसे, जीव भ्रमत संसार ॥ ११ ॥

उत्थानिका—यहांपर शिष्य पूछता है कि स्वामिन्! माना कि मोक्षमें जीव सुखी रहता है। किन्तु संसारमें भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?—कारण कि संसारके सभी प्राणी सुखको ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव संसारमें ही सुखी हो जाँय तो फिर संसारमें ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि संत पुरुष उसके नाश करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं? इस विषयमें आचार्य कहते हैं—हे वत्स—

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिबाह्यते ।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अन्वय—यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विपत् अतिवाह्यते तावत् अन्याः प्रचुराः विपदः पुरः भवन्ति ।

टीका—यावदतिवाह्यते अतिक्रम्यते। प्रेर्यते। कासौ, विपत् सहजशारीरमानसागन्तुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत्। जीवेनेति शेषः। क, भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्त इव पादचाल्यघटीयन्त्रमिव भूयोभूयः परिवर्त्तमानत्वात्। केव, पदिकेव पादाक्रान्तदण्डिका यथा तावद्भवन्ति। का, अन्या अपूर्वाः प्रचुरा बह्वो विपदः आपदः पुरो अग्रे जीवस्य यदि। का इव, काछिकस्येति सामर्थ्यदुर्व्या। अतो जानीहि दुःखैकनिबन्धनविपत्तिनिरन्तरत्वात् संसार अवश्यविनाश्यस्तम्।

पुनः शिष्य एवाह। न सर्वे विपद्वन्तः ससंपदोपि दृश्यन्त इति भगवन् समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषांचिद् दृश्यमानत्वादित्यत्राह;—

अर्थ—जबतक संसाररूपी पैरसे चलाये जानेवाले घटीयंत्रमें एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं।

विशेषार्थ—पैरसे चलाये जानेवाले घटीयंत्रको पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें बार बार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमें पैरसे दबाई गई लकड़ी या पटलीके व्यतीत हो जानेके बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसाररूपी पदावर्तमें एक विपत्तिके बाद दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ जीवके सामने आ खडी होती हैं।

१ आकस्मिकागत। २ एक यंत्रविशेष जो पानी उलीचनेके काम आता है।

इसलिये समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणीभूत विपत्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके कारण यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवश्य नाश करना चाहिए ॥ १२ ॥

दोहा—जबतक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।
पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन्! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुतसे सम्पत्तिवाले भी दीखनेमें आते हैं। इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

अन्वयः—ज्वरवान् सर्पिषा इव कोऽपि जनः दुरर्ज्येन असुरक्ष्येण धनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

टीका—भवति। कोसौ, जनो लोकः। किंविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः। किंविशिष्टो भवति, स्वस्थंमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः। केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किंविशिष्टेन, दुरर्ज्येन अपायबहुलत्वात् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति दुरर्ज्येनं तथा असुरक्ष्येण दुस्त्राणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्याप्यपायस्यावश्यंभावित्वात्। तथा नश्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन। अत्र दृष्टान्तमाह। ज्वरेत्यादि। इव शब्दो यथार्थे यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वरार्तः सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति। निरामयमात्मानं मन्यते ततो बुद्ध्यस्व दुरुपार्ज्यदूरक्षणभङ्गुरद्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्। उक्तं च—

"अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥"

"भूयोपि विनेयः पृच्छति।" एवंविधां संपदां कथं न त्यजतीति। अनेन दुरर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदां धनादिसंपत्तिं कथं मुञ्चति न जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्र गुरुरुत्तरमाह;—

अर्थ—जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्थ मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किलसे पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विशदार्थ—जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले बुखार) से पीड़ित होता है, वह बुद्धिके ठिकाने न रहनेसे—बुद्धिके बिगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेनेसे अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं—ऐसे इष्ट वस्तुओंमें अपने आपको 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुश्किलोंसे पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाईसे होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकोंसे दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है—
"अर्थस्योपार्जने दुःखं०"

'धनके कमानेमें दुःख, उसकी रक्षा करनेमें दुःख, उसके जानेमें दुःख, इस तरह हर हालतमें दुःखके कारणरूप धनको धिक्कार हो'।

दोहा कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।
इनसे सुखकी कल्पना, जिमि घृतसे ज्वर व्याधि ॥ १३॥

शंका—फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्यकी बात है कि जब 'मुश्किलोंसे कमायी जाती' आदि हेतुओंसे धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्पत्तिको लोग छोड़ क्यों नहीं देते? आचार्य उत्तर देते हैं—

विपत्तिमात्मनो मूढः, परेषामिव नेक्षते।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

अन्वय—दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् मूढः परेषामिव आत्मनो विपत्तिं नेक्षते।

टीका—नेक्षते न पश्यति। कोऽसौ, मूढो धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः। कां, विपत्तिं चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदां। कस्य, आत्मनः स्वस्य। केषामिव, परेषामिव। यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्याक्रन्तव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः। क इव, प्रदह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यान्तरे मध्ये वर्तमानं। स नदं वृक्षमारूढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य। गुरुराह। लोभादिति, वरव धनादिगार्ध्यात्पुरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यन्ति ॥ १४॥ यतः—

अर्थ—जिसमें अनेकों हिरण दावानलकी ज्वालासे जल रहे हैं, ऐसे जंगलके मध्यमें वृक्षपर बैठे हुए मनुष्यकी तरह यह संसारी प्राणी दूसरोंकी तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियोंका ख्याल नहीं करता है।

विशदार्थ—धनादिकमें आसक्ति होनेके कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी चोरादिकके द्वारा की जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्तिको नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियोंके शिकार होते हैं, उसी तरह मैं भी विपत्तियोंका शिकार बन सकता हूँ। इस वनमें लगी हुई यह आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानलकी ज्वालाओंसे जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं—जल रहे हैं, उसी वनके मध्यमें मौजूद वृक्षके ऊपर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबरा रहे हैं—छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियोंका मुझसे कोई संबंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियोंका सम्बंध दूसरोंकी सम्पत्तियोंसे है, मेरी सम्पत्तियोंसे नहीं है ॥ १४ ॥

दोहा—परकी विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं।
जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरुपर ठहराहिं ॥ १४ ॥

---

१ अमतः स्थितामपि।

फिर भी शिष्यका कहना है कि हे भगवन्! क्या कारण है कि लोगोंको निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती? आचार्य जवाब देते हैं—"लोभात" लोभके कारण, हे वत्स! धनादिककी गृद्धता-आसक्तिसे धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्तिको नहीं देखते हैं, कारण कि—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्॥ १५॥

अन्वय—आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं वाञ्छतां धनिनां जीविताद् धनं सुतरां इष्टम्।

टीका—वर्त्तते। किं तद्धनं। किंविशिष्टं, इष्टमभिमतं। कथं, सुतरां अतिशयेन कस्माज्जीवितात्प्राणेभ्यः। केषां, धनिनां। किं कुर्वतां, वाञ्छतां। कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं। कस्य, कालस्य। किंविशिष्टं, आयुरित्यादि। आयुः-क्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालान्तरवर्द्धनस्य कारणम्। अयमर्थो, धनिनां तथा जीवितव्य नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वाञ्छन्ति। अतो धिग्धनम् एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्॥ १५॥

अत्राह शिष्यः। कथं धनं निन्द्यं येन पुण्यमुपार्ज्यते इति पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निन्द्यं, किं तर्हि प्रशस्यमेवातो यथाकथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह—

अर्थ—कालका व्यतीत होना, आयुके क्षयका कारण है और कालान्तरके माफिक व्याजके बढ़नेका कारण है, ऐसे कालके व्यतीत होनेको जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवनसे धन ज्यादा इष्ट है।

विशदार्थ—मतलब यह है कि धनियोंको अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन। धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही व्याजकी आमदनी बढ़ जायगी। वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी। वह धनवृद्धिके ख्यालमें जीवन (आयु) विनाशकी ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता। इसलिये मालूम होता है कि धनियोंको जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। इस प्रकारके व्यामोहका कारण होनेसे धनको धिक्कार है॥ १५॥

दोहा—आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान॥ १५॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि धन जिससे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, वह निंद्य-निंदाके योग्य क्यों है? पात्रोंको दान देना, देवकी पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्यकी कारण हैं, वे सब धनके विना हो नहीं सकती। इसलिये पुण्यका साधनरूप धन निंद्य क्यों? वह तो प्रशंसनीय ही है। इसलिये जैसे बने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकोंमें देकर सुखके लिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति॥ १६॥

अन्वय—यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स "स्नास्यामि" इति स्वशरीरं पङ्केन विलिम्पति।

टीका—योऽवित्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति। किं तद्वित्तं धनं। कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात्। कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय। यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोत्विति भावः। स किं करोतीत्याह–विलिम्पति विलेपनं करोति। कोऽसौ, सः। किं तत्स्वशरीरं। केन, पङ्केन कर्दमेन। कथं कृत्वेत्याह। स्नास्यामीति। अयमर्थो, यथा कश्चिन्निर्मलाङ्गं स्नानं करिष्यामीति पङ्केन विलिम्पन्नसमीक्ष्यकारी[1] तथा पापेन धनमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि। न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संभवति। तथा चोक्तम्—

"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते, सतामपि न संपदः। न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदपि सिन्धवः"॥४५॥-आत्मानुशासनं।

पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति। भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निंद्यं तर्हि धनं विना सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात्तदर्थं धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति। भोगो भोजनताम्बूलादिः। उपभोगो वस्त्रकामिन्यादिः। भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै। अत्राह गुरुः। तदपि नेति न केवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात्। किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति। यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदपि न स्यात्। कुत इति चेत्, यतः॥ १६॥

अर्थ—जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसलिये दान करनेके लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसे ख्यालसे अपने शरीरको कीचड़से लपेटता है।

अर्थ—जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पापकी हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करनेके लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीरको कीचड़से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्यालसे धनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतटीकामें यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोंकी तरह जिसको विना यत्न किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धनसे कल्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—"शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते०"

अर्थ—"सत्पुरुषोंकी सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धनसे बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जलसेही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षामें गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं"॥१६॥

दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।
स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़से लिम्पेय॥ १६॥

---

१ अविचारितकार्यकारी।

उत्थानिका—फिर शिष्य कहता है कि भगवन् ! धनके कमानेमें यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःखका कारण होनेसे धन निंद्य है, तो धनके विना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते, इसलिये उनके लिये धन होना ही चाहिये, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्यका कारण होनेसे धन प्रशंसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोगके लिये धन साधन है,' यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं :—

आरम्भे तापकान्प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः॥ १७॥

अन्वय—आरम्भे तापकान् प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्त्यजान् कः सुधीः कामं सेवते।

टीका—को, न कश्चित् सुधीर्विद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुभवति। कान्, भोगोपभोगान्।
उक्तं च—

"तदात्वे सुखसंज्ञेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते। हितमेवानुरुध्यन्ते, प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः॥"

कथंभूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमनःक्लेशहेतून्। क, आरम्भे उत्पत्त्युपक्रमे। अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुलताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात्। तर्हि भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः संभूतिसेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि। प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान्। उक्तं च—

"अपि संकल्पिताः कामाः, संभवन्ति यथा यथा। तथा तथा मनुष्याणां, तृष्णा विश्वं विसर्पति॥"

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृष्णा संतापः साम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह। अन्ते सुदुस्त्यजान् भुक्तिप्रान्ते त्यक्तुमशक्यकान्। सुभुक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुर्निवारत्वात्। उक्तं च—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि, तृप्येदुदधिर्नदीशतैः। न तु कामसुखैः पुमानहो, बलवत्ता खलु कापि कर्मणः॥
अपि च—किमपीदं विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन। प्रसभमनुभूय मनोभवे भवे नैव चेतयते॥" ॥४४॥
—अनगारधर्मामृते षष्ठोऽध्यायः।

ननु तत्त्वविदोपि भोगानभुक्तवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह। काममिति। अत्यर्थं। इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते। मन्दीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव। तथा चोक्तम्।

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम। अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।—ज्ञानार्णवे पृ० ७६, —सागारधर्मामृते पृ० १०।

किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति। भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुं प्रार्थ्यते तद्वक्ष्यमाणलक्षणमित्यर्थः। स एवंविध इति पाठः तद्यथा—

अर्थ—आरम्भमें सन्तापके कारण और प्राप्त होनेपर अतृप्तिके करनेवाले तथा अन्तमें जो बड़ी मुश्किलोंसे भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगोंको कौन विद्वान्—समझदार-ज्यादती व आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विशदार्थ—भोगोपभोग कमाये जानेके समय, शरीर इंद्रिय और मनको क्लेश पहुँचानेका कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्योंके पैदा करनेके लिये खेती करनेमें एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुखके कारण होते हैं! इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियोंके द्वारा सम्बन्ध होनेपर वे अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णाके कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है:—"अपि संकल्पिताः कामाः०"

"ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मनुष्योंकी तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोकमें फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है, कि अमुक मिले। उसके मिल जानेपर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जानेपर मनुष्यकी तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थोंको चाहने लग जाजी है कि वे सब ही मुझे मिल जायँ। परंतु यदि यथेष्ट भोगोपभोगोंको भोगकर तृप्त हो जाय तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा! इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेनेपर अन्तमें छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेनेपर भी मनकी आसक्ति नहीं हटती," जैसा कि कहा भी है—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०"

"यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदिके ढेरसे तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियोंसे तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखोंसे कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मोंकी कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है।" और भी कहा है:—"किमपीदं विषयमयं०"

"अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजबका विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।"

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्तमें क्लेश-तृष्णा एवं आसक्तिके कारणभूत इन भोगोपभोगोंको कौन बुद्धिमान् इंद्रियरूपी नलियोंसे अनुभवन करेगा? कोई भी नहीं।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोंको न भोगा हो यह बात सुननेमें नहीं आती है। अर्थात् बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियोंने भी भोगोंको भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगोंको कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय? इस बातपर कैसे श्रद्धान किया जाय? आचार्य जवाब देते हैं—कि हमने उपर्युक्त कथनके साथ "कामं अत्यर्थं०" आसक्तिके साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे भोगोंको छोड़नेके लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगोंको त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्यकी भावनासे

न्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंको वशमें कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करनेके लिये कटिबद्ध-यार हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—" इदं फलमियं क्रिया० "

" यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह ानुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह ाल है, इन सब बातोंपर ख़्याल देते हुए बुद्धिमान् पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्ख ऐसा हीं करता। " ॥ १७ ॥

दोहा—भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़।
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़ ॥ १७ ॥

उत्थानिका—आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ भोगोपभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे बताया ाता है—

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

अन्वय—यत्सङ्गं प्राप्य शुवीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्थं प्रार्थना वृथा।

टीका—वर्तते। कोऽसौ, सः कायः शरीरं। किं विशिष्टः, संततापायः नित्यक्षुधाद्युपतापः। स क इत्याह। त्य येन कायेन सह संबन्धं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्राण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवन्ति यतश्चैवं तस्तदर्थं तं संततापायं कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकाङ्क्षा वृथा व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि कस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे परापरापायोपनिपातसम्भवात्।

पुनरप्याह शिष्यः—तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति। भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना ह्युपकारो न स्यात्तर्हि धनादिनापि न केवलमनशनादितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः। आत्मनो जीवनस्योपकारोऽनुग्रहो विष्यतीत्यर्थः। गुरुराह तन्नेति। यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यंते तन्नास्ति ॥ १८ ॥ यतः—

अर्थ—जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते , वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशों कर सहित है, अतः उसको ोगोपभोगोंको चाहना व्यर्थ है !

विशदार्थ—जिस शरीरके साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक दार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापोंकर हित है। जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे अच्छे पदार्थोंसे भला बनानेके लिये ाकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपायसे यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया ाय तो क्षण क्षणमें दूसरे दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं ॥ १८ ॥

दोहा—शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जाँय।
विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफल ॥ १८ ॥

उत्थानिका—फिर भी शिष्यका कहना है कि भगवन् कायके हमेशा अपायवाले होनेसे यदि धनादिकके द्वारा कायका उपकार नहीं हो सकता, तो आत्माका उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्यासे ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थोंसे भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि—

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥ १९॥

अन्वय—यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं भवति, तथा यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं भवति।

टीका—यदनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात्। यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्यो-पार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिः दुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगन्धोप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारत्वात्।

अत्राह शिष्यः। तर्हि कायस्योपकारश्चिन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते। न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यम्। ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात् ॥ १९ ॥ तथा चोक्तम्—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्। एतस्य द्वितस्यापि, ध्यानमेवाग्रकारणम्॥" २१७॥-तत्त्वानुशासनं झाणस्य ण दुल्लहं किंपीति च—अत्र गुरुः प्रतिषेधमाह तन्नेति। ध्यानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इत्यर्थः।

अर्थ—जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीरका अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं। जो चीजें शरीरका हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्माका अहित करनेवाली होती हैं।

विशदार्थ—देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पापोंको नाश करनेवाला होनेके कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीरमें ग्लानि शिथिलतादि भावोंको कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिकके उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओंको दूर करनेमें सहायक होते हैं। अतः वे शरीरके उपकारक हैं। किन्तु उसी धनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होनेसे दुर्गतिके दुःखोंकी प्राप्तिके लिये कारणीभूत है। अतः वह जीवका अहित या बुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि धनादिकके द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

---

१ रोगाद्युपविनाशे।

दोहा—आतम हित जो करत है, सो तनको उपकार।
जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार ॥ १९ ॥

अथवा कायका हित सोचा जाता है, अर्थात् कायके द्वारा होनेवाले उपकारका विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" शरीर धर्म-सेवनका मुख्य साधन-सहारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करनेके लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। कायके रोगादिक अपायोंका दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यानके द्वारा वह (रोगादिकका दूर किया जाना) आसानीसे कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—"यत्रादिकं फलं किंचित्०" ॥ १९ ॥

जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि "झाणस्स ण दुलहं किं पीति च" ध्यानके लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ध्यानसे सब कुछ मिल सकता है। इस विषयमें आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यानके द्वारा कायका उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य, इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्रियन्तां विवेकिनः ॥ २० ॥

अन्वय—इतो दिव्यश्चिन्तामणिः इतश्च पिण्याकखण्डकम् चेत् ध्यानेन उभे लभ्ये, विवेकिनः क्व आद्रियन्ताम्।

टीका—अस्ति। कोऽसौ, चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदो रत्नविशेषः। किंविशिष्टो, दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। क्व, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे। इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितमल्पं वा खलखण्डकमस्ति। एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्येते। अवश्यं लभ्येते तर्हि कथय क्व द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियन्ताम् आदरं कुर्वन्तु। तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः। उक्तं च—

"यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा, यदैहिकफलार्थिनाम्। तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम्" ॥२२०॥—तत्त्वानुशासनं

अथैवमुद्बोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति, स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिर्ध्यातव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किं—स्वरूप इत्यर्थः। गुरुराह—॥ २० ॥

अर्थ—इसी ध्यानसे दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, इसीसे खलीके टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे ?

विशदार्थ—एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थको देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटासा खलीका टुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यानके द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनोंमेंसे किसकी ओर विवेकी लोभके नाश करनेके विचार करनेमें चतुर-पुरुष आदर करेंगे ? इसलिये इसलोक सम्बन्धी फल कायकी नीरोगता आदिकी अभिलाषाको छोड़कर परलोक सम्बन्धी फलकी सिद्धि-प्राप्तिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, "यद् ध्यानं रौद्रमार्तं वा०" ॥ २० ॥

" वह सब रौद्रध्यान या आर्त्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फलके चाहनेवालेको होता है। इसलिये रौद्र व आर्त्तध्यानको छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।"

दोहा—इत चिंतामणि है महत, उत खल टूक असार।
ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार॥ २०॥

अब वह शिष्य जिसे समझाये जानेसे श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूपसे बतलाया है वह कैसा है? उस आत्माका क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

अन्वय—आत्मा, लोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौख्यवान् तनुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदन-सुव्यक्तः (अस्ति)।

टीका—अस्ति। कोऽसौ, आत्मा। कीदृशः, लोकालोकविलोकनः लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठ[1]तया लोकते पश्यति जानाति। एतेन "ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा" इति सांख्यमतं बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तम्। प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्य[2]वादो बौद्धानाम्। पुनः कीदृशः, अत्यन्त-सौख्यवान् अनन्तसुखस्वभावः। एतेन सांख्ययौगतन्त्रं प्रत्याहतम्। पुनरपि कीदृशस्तनुमात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः। एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदन्तौ प्रत्याख्यातौ। पुनरपि कीदृशः, निरत्ययः द्रव्यरूपतया नित्यः। एतेन गर्भादि-मरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानान्[3]श्चार्वाको निराकृतः। ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चात्मनस्तथा प्रमाण-सिद्धत्वमस्तीत्यारेकायामाह—स्वसंवेदनसुव्यक्त इति।

" वेद्यत्वं वेदकत्वं च, यत्स्वस्य स्वेन योगिनः। तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्॥१६१॥"—तत्त्वानुशासनम्।

इत्येवंलक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण[4] सकलप्रमाणधुर्येण[5] सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वेकदेशेन।

अत्राह शिष्यः यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम्। गुरुराह— ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा लोक और अलोकको देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदनसे तथा कहे हुए गुणोंसे योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभवमें आया हुआ है।

विशदार्थ—जीवादिक द्रव्योंसे घिरे हुए आकाशको लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाशको अलोक कहते हैं। उन दोनोंको विशेषरूपसे उनके समस्त विशेषोंमें रहते हुए जो जानने देखनेवाला है, वह आत्मा है। ऐसा कहनेसे "ज्ञानशून्यचैतन्यमात्रमात्मा" ज्ञानसे शून्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा "बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्" बुद्धि सुख दुःखादि गुणोंसे रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खंडित हुआ समझना चाहिये। और बौद्धोंका

---

१ परिपूर्णतया। २ अभावात्मको मोक्षः। ३ ब्रुवन्। ४ प्रमाणेन। ५ मुख्येन।

नैरात्म्यवाद' भी खंडित हो गया। फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान अनंत सुखस्वभाववाला है'। ऐसा कहनेसे सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह "तनुमात्रः" 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर—परिमाणवाला है'। ऐसा कहनेसे जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है' उनका खंडन हो गया। फिर वह आत्मा "निरत्ययः" 'द्रव्यरूपसे नित्य है' ऐसा कहनेसे, जो चार्वाक यह कहता था कि "गर्भसे लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है," उसका खण्डन हो गया।

यहाँपर किसीकी यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण-गान करना उचित है। परन्तु आत्मामें प्रमाणसिद्धता ही नहीं है—वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तब ऊपर कहे हुए विशेषणोंसे किसका और कैसा गुणवाद? ऐसी शंका होनेपर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन—सुव्यक्त है,' स्वसंवेदन नामक प्रमाणके द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। "वेद्यत्वं वेदकत्वं च०"

"जो योगीको खुदका वेद्यत्व व खुदके द्वारा वेदकत्व होता है, बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसीको आत्माका अनुभव व दर्शन कहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्यकी उस परिणतिको स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसीको आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकारके स्वरूपवाले स्वसंवेदन—प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणोंमें मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणोंसे सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनोंको एक-देश विशदरूपसे अनुभवमें आता है।" ॥ २१ ॥

दोहा—निज अनुभवसे प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान ॥ २१ ॥

यहाँपर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरहका आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करनेके उपायोंको पूछा गया है।

आचार्य कहते हैं—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

अन्वय—करणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मनि स्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत्।

टीका—ध्यायेत्। भावयेत्। कोऽसौ, आत्मवान् गुप्तेन्द्रियमना अध्वस्तस्वायत्तवृत्तिर्वा। कं, आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषम्। केन, आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणान्तराभावात्। उक्तं च—

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्, न तस्य कारणान्तरम्। ततश्चिन्तां परित्यज्य, स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥ १६२ ॥"—तत्त्वानुशासनम्

क तिष्ठन्तमित्याह, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूपमात्राधारत्वात्। किं कृत्वा? संयम्य रूपादिभ्यो व्यावृत्य। किं, करणग्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणम्। केनोपायेन, एकाग्रत्वेन एकं विवक्षितमात्मानं तद् द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं

प्राधान्येनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं अग्रमात्मग्राह्यं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य, चेतसो मनसः । अयमर्थो यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टम्भात् आलम्बितेन मनसा इन्द्रियाणि निरुद्ध्य स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिन्तां त्यक्त्वा स्वयंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

"गहियं तं सुअणाणा, पच्छा संवेयणेण भाविज्जा । जो ण हु सुयमवलंबइ, सो मुज्झइ अप्पसब्भावो ॥"
—अनगारधर्मामृते तृतीयोऽध्यायः पृ० १७० ॥

तथाच "प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मयि स्थितम् । बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्" ॥३२॥
—समाधिशतकम्

अथाह शिष्यः आत्मोपासनया किमिति भगवन्नात्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्नाचष्टे—॥ २२ ॥

अर्थ—मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंको वशमें कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपनेमें ही स्थित आत्माको अपने ही द्वारा ध्यावे ।

विशदार्थ—जिसने इन्द्रिय और मनको रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्तिको ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के श्लोकमें) बता आये हैं, आत्माको आत्मासे ही यानी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मामें ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है । उस ज्ञप्तिमें और कोई करणान्तर नहीं होते । जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्०"

"वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है । वह स्वयं ही स्वयंको जानता है, और परको भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणोंकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये चिन्ताको छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसंवेदनके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। कारण कि परमार्थसे सभी पदार्थ स्वरूपमें ही रहा करते हैं । इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियोंकी अपने अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे ।" यहाँपर संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजीने 'एकाग्र' शब्दके दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिये प्रधानतासे आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाग्र'। अथवा एक कहिये पूर्वापर पर्यायोंमें अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्य जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे ।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके द्वारा इंद्रियोंको रोक कर स्वात्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताको प्राप्त कर चिन्ताको छोड़ कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है—"गहियं तं सुअणाणा०"

अर्थ—"उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभावके विषयमें गड़बड़ा जाता है।

---

१ अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं । २ फल ज्ञान ।

इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामीके समाधिशतकमें कहा है—" प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं० "

" मैं इंद्रियोंके विषयोंसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुवा हूँ । " ॥ २२ ॥

दोहा—मनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय ।
आतमज्ञानी आतममें, निजको निजसे ध्याय ॥ २२ ॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् ! आत्मासे अथवा आत्माकी उपासना करनेसे क्या मतलब सधेगा—क्या फल मिलेगा ? क्योंकि विचारवानोंकी प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य जवाब देते हैं—

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

अन्वय—अज्ञानोपास्तिः अज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं ददाति " यत्तु तस्य अस्ति तदेव ददाति " इदं सुप्रसिद्धं वचः ।

टीका—ददाति । कासौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रान्तिः संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा । किं ? अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेहलक्षणं । तथा ददाति । कासौ, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेर्वा समाश्रयः । अनन्यपरया सेवनं । किं ? ज्ञानं स्वार्थावबोधम् । उक्तं च,—

" ज्ञानमेव फलं ज्ञाने, ननु श्लाघ्यमनश्वरम् । अहो मोहस्य माहात्म्य, मन्यदप्यत्र मृग्यते" ॥१७५॥—आत्मानुशासनम्

को अत्र दृष्टान्त इत्याह यदित्यादि । ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे । तेनायमर्थः संपद्यते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमात्मनि सेव्यश्च । अत्राप्याह शिष्यः—ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोयम् । गुरुराह—॥ २३ ॥

अर्थ—अज्ञान कहिये ज्ञानसे रहित शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञानी गुरुओंकी सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज़ जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा ?

विशदार्थ—अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रांति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रमव संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—" ज्ञानमेव फलं ज्ञाने० "

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो। अहो! यह मोहका ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है। इसलिये हे भद्र! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्वपर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है।" ॥ २३ ॥

दोहा—अज्ञभक्ति अज्ञानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।
लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान ॥ २३ ॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगीकी अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है। आचार्य कहते हैं—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय—अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आशु जायते।

टीका—जायते भवति। कासौ, निर्जरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः। केषां, कर्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनाम्। कथमाशु सद्यः। केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह-निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता। कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम्। कुत इत्याह, परीषहाणां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दाद्देवादिकृतोपसर्गबाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात्। तथा चोक्तम्—

"यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम्। स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्रवः" ॥२४६॥-आत्मानुशासनम्

"तथा ह्यचरमाङ्गस्य, ध्यानमभ्यस्यतः सदा। निर्ज्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्मणाम्" ॥२२५॥—तत्त्वानुशासनम्

"आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः। तपसा दुःष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते" ॥३४॥—समाधिशतकम्

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते। कुत इत्याशङ्कायां पुनराचार्य एवाह—सा खलु कर्मणो भवति तस्य संबन्धस्तदा कथमिति। वत्स आकर्णय खलु यस्मात्सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्जरा कर्मणः चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संबन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवात्। तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले संबन्धः प्रत्यासत्तिरात्मना सह। कथं केन संयोगादिप्रकारेण संभवति? सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षस्व न कथमपि संभवतीत्यर्थः। यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कथं द्रव्यान्तरेण संबन्धः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात्। न चैतत्संसारिणो न संभवतीति वाच्यं। संसारतीरप्राप्तस्य योगिनो मुक्तात्मवत् पञ्चह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्मक्षपणाभिमुखस्य लक्षणोत्कृष्टशुक्ललेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्मपारतन्त्र्यव्यवहरणात्। तथा चोक्तं परमागमे—

"सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि" ॥ ६५ ॥
—गोम्मटसारः जीवकांड। श्रूयतां चास्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकः ॥ २४ ॥

अर्थ—आत्मामें आत्माके चिंतवनरूप ध्यानसे परीषहादिका अनुभव न होनेसे कर्मोंके आगमनको रोकनेवाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है।

विशदार्थ—अध्यात्मयोगसे आत्मामें आत्माका ही ध्यान करनेसे कर्मोंकी निर्जरा (एकदेशसे कर्मोंका क्षय हो जाना, कर्मोंका सम्बंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारोंके कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपि तु भूख-प्यास आदि दुःखके भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकोंके द्वारा किये गये उपसर्गोंकी बाधाको अनुभवमें न लानेसे कर्मोंके आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:—" यस्य पुण्यं च पापं च० "

" जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं—खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मोंका आगमन नहीं होता। इस श्लोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासनमें कहा है—" तथा ह्यचरमांगस्य० "

चरमशरीरीके ध्यानका फल कह देनेके बाद आचार्य अचरमशरीरीके ध्यानका फल बतलाते हुए कहते हैं—कि जो सदा ही ध्यानका अभ्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक द्वारा पापरूप कर्मोंकी ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—" आत्मदेहान्तरज्ञान० "

" आत्मा व शरीरके विवेक (भेद) ज्ञानसे पैदा हुए आनन्दसे परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्याके द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहोंको भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनयसे कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मोंकी निर्जरा होती है, परमार्थसे नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों ? आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो, क्योंकि एकदेशसे सम्बन्ध छूटजाना, इसीको निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा कर्मकी (चित्सामान्यके साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेवाले पुद्गलोंके परिणामरूप द्रव्यकर्मकी) हो सकती है। क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्योंमें ही बन सकता है। अब जरा बारीक दृष्टिसे विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरूपमात्रमें अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धोंमेंसे कौनसा सम्बन्ध हो सकता है ? मतलब यह है कि किसी तरहका सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरहसे आत्मा परद्रव्योंसे

व्यावृत होकर केवलस्वरूपमें ही स्थित हो जाता है। तब उसका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध कैसा ? क्योंकि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एकमें नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरहकी अवस्था संसारीजीवमें नहीं पाई जाती। कारण कि संसाररूपी समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनोंका मुक्तात्माओंकी तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) के बोलनेमें जितना काल लगता है, उतने कालतक वैसा (निर्बन्ध-बन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मोंका नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके संस्कारके वशसे उतनी देर (पंच ह्रस्व अक्षर बोलनेमें जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागममें कहा गया है—" सीलेसिं संपत्तो० "

" जो शीलोंके ईशत्व (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रुक गये हैं, तथा जो कर्मरूपी धूलीसे रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवली होता है " ॥ २४ ॥

दोहा—परिषहादि अनुभव विना, आतम-ध्यान प्रताप।
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप ॥ २४ ॥

उपरिलिखित अर्थको बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो—

कटस्य कर्त्ताहमिति, संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

अन्वय—अहं कटस्य कर्त्ता इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यानं ध्येयं तदा कीदृशः संबन्धः।

टीका—स्याद् भवेत्। कोऽसौ, संबन्धः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः। कयोर्द्वयोः कथंचिद् भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि। कीदृशः, कर्त्ता निर्माता। कस्य, कटस्य वंशदलानां जलादि-प्रतिबन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य। एवं संबन्धस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह। ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्ता वा। उक्तं च—

" ध्यायते येन तद्ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा। यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ? " ॥६७॥
—तत्त्वानुशासनम्

ध्यायत इति ध्येयं वा ध्यातिक्रियया ध्याप्यं। यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः संयोगादिप्रकारः संबन्धो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरेति परमार्थतः कथ्यते। अत्राह शिष्यः—तर्हि कथं अप्रतिपक्षस्य मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मबन्धस्ते, द्रव्ययोरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते। तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोर्बन्धः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात्। तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो बन्धविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानन्त-सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात्। गुरुराह—॥ २५ ॥

अर्थः—" मैं चटाईका बनानेवाला हूँ " इस तरह जुदा जुदा दो पदार्थोंमें सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहा सम्बंध कैसा ?

विशदार्थ—लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा जुदा) दो पदार्थोंमें संबन्ध हुआ करता है। जैसे बाँसकी खपच्चियोंसे जलादिकके संबंधसे बननेवाली चटाईका मैं कर्त्ता हूँ—बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला ' मैं ' जुदा हूँ और बननेवाली ' चटाई ' जुदी है। तभी उनमें ' कर्तृकर्म ' नामका सम्बंध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बंध द्विष्ठ (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृतमें वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है इसको दिखलाते हैं।

" ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्ता च "—जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करनेमें करण हो—साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है—ध्यानका कर्त्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है—" ध्यायते येन तद् ध्यानं० "

" जो ध्यैञ् चिन्तायाम् " धातुका व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्माका परमात्माके साथ एककिरण होनेके समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारोंमेंसे द्रव्यकर्मोंके साथे आत्माका कौनसे प्रकारका सम्बन्ध होगा ? जिससे कि " अध्यात्मयोगसे कर्मोंकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है " यह बात परमार्थसे कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मासे कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परंतु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्थामें किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका ? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमें कर्मोंकी निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारसे ही है, परमार्थसे नहीं। " ॥२५॥

दोहा— ' कटका मैं कर्तार हूँ " यह है द्विष्ठ सम्बन्ध।
आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥ २५ ॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् ! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्यका अध्यात्मयोगके बलसे बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकारसे उन दोनोंमें (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्योंमें) परस्पर एकके प्रदेशोंमें दूसरेके प्रदेशोंका मिलजाना रूप बंध होगा ? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। और बंधका प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मोंकी विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीवको कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुखका कारण होनेसे योगियोंके द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते हैं—

बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

अन्वय—सममः निर्ममः जीवः क्रमात् बध्यते मुच्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

टीका :—ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

"न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत । यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः, स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्" ॥२॥—नाटकसमयसारकलशः बन्धोऽधिकारः । —अनगारधर्मामृते षष्ठोऽध्यायः पृ० २०५

यदैक्यमुपयोगभूसमुपरौ अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणम् । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्ताम् । उक्तं च—

"अकिंचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः" ॥ ११० ॥
—आत्मानुशासनम्

अथवा "रागी बध्नाति कर्माणि, वीतरागो विमुञ्चति । जीवो जिनोपदेशोऽयं, संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः" ॥
—ज्ञानार्णवः पृ० २४२

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः । नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥ इत्यादि तज्ज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत् । उक्तं च—

"निवृत्तिं भावयेद्यावन्निर्वृत्तिं तदभावतः । न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च, तदेव पदमव्ययं" ॥ २३६ ॥—आत्मानुशासनम्

अथाह शिष्यः—कथं नु तदिति निर्ममत्वविचिन्तनोपायप्रश्नोऽयम् अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति—॥ २६ ॥

अर्थ—"ममतावाला जीव बँधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिये हर तरहसे पूरी कोशिशके साथ निर्ममताका ही ख्याल रक्खे।"

विशदार्थ—अव्ययोंके अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, "मम" इस अव्ययका अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'सम्म' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकारके अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मोंसे बँधता है। उपलक्षणसे यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकलशमें कहा है—

"न कर्मबहुलं जगन्न०"

अर्थ—न तो कर्मस्कंधोंसे भरा हुआ यह जगत् बंधका कारण है, और न हलन-चलनादिरूप क्रिया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थोंका विनाश करना ही बन्धका कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकोंके साथ एकताको प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवोंका रागादिक सहित उपयोग ही बन्धका कारण है। यदि वही जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मोंसे छूट जाता है। कहा भी है कि—"अकिंचनोऽह०"

मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोकके स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़े योगियोंके द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्माका रहस्य बतला दिया है।

और भी कहा है—"रागी बध्नाति कर्माणि०" रागी जीव कर्मोंको बाँधता है। रागादिसे रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेपमें बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्रका उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्नसे व्रतादिकोंमें चित लगाकर अथवा मन, वचन, कायकी सावधानतासे निर्ममताका ही ख्याल रखना चाहिये "मत्तः कायादयो भिन्नास्०"

"शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं, मैं भी परमार्थसे इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।" इत्यादिक श्रुतज्ञानकी भावनासे मुमुक्षुको भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासनमें गुणभद्रस्वामीने कहा है।—"निवृत्तिं भावयेत्०"

जबतक मुक्ति नहीं हुई तबतक परद्रव्योंसे हटनेकी भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। बस वही अविनाशी पद जानो॥ २६॥

दोहा—मोही बाँधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय।
यातैं गाढ़ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय॥२६॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होवे? इसमें निर्ममताके चिंतवन करनेके उपायोंका सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रियाको "एकोऽहं निर्ममः०" से प्रारंभ कर "मम विज्ञस्य का स्पृहा०" तकके श्लोकों द्वारा बतलाते हैं।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥ २७॥

अन्वय—अहं एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वथा बाह्याः।

टीका—द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्येत्यभिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशद् द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्योऽहमात्मास्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकर्मसंबन्धाद्याता मया सह संबान्धं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः सन्ति पुनर्मावक एवं विमृशति संयोगात्किमिति देहादिभिः संबन्धाद्देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः। तत्र स्वयमेव समाधत्ते,—॥ २७॥

अर्थ—मैं एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रोंके द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वथा बाहिरी-भिन्न हैं।

विशदार्थ—मैं द्रव्यार्थिकनयसे एक हूँ, पूर्वापर पर्यायोंमें अन्वित हूँ। निर्मम हूँ-'मेरा यह,' 'मैं इसका' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्धनयकी अपेक्षासे, द्रव्यकर्म भावकर्मसे

रहित हूँ, केवलियोंके द्वारा तो अनन्त पर्याय सहित रूपसे और श्रुतकेवलियोंके द्वारा शुद्धोपयोगमात्र-रूपसे जाननेमें आसकने लायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोगसे-द्रव्यकर्मोंके संम्बन्धसे प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरहसे (द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) बिल्कुल जुदे हैं ॥२७॥

दोहा—मैं इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य ।
कर्मोदयसे भाव सब, मोतें पूर्ण अगम्य ॥ २७ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको क्या होता है ? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि—

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अन्वय—इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनोवाक्कायकर्मभिः त्यजामि ।

टीका—दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्व देहिनामिह संसारे संयोगाद्देहादिसंबन्धाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । कैः क्रियमाणं, मनोवाक्कायकर्मभिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेशपरिस्पन्दैस्तैरेव त्यजामि । अयमभिप्रायो मनोवाक्कायान्प्रतिपरिस्पन्दमानानात्मप्रदेशान् भावतो निरुन्धामि । तद्भेदाभेदाभ्यासमूलत्वा-त्सुखदुःखैकफलनिर्वृतिसंसृत्योः । तथा चोक्तम्—

"स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयम् । संसारस्तावदेतेषां, तदाभ्यासेन निर्वृतिः" ॥ ६२॥-समाधिशतकम्

पुनः स एवं विमृशति—पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद्व्यथाः कथं परिह्रियन्त इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्त्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्ते मरणादयो मृत्युरोगादयः संभवन्ति । तद्यथा मरणादयः संभवन्ति । मरणादि संबन्धिन्योबाधा । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्रियन्ते । तदभिभवः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते;—॥ २८ ॥

अर्थ—इस संसारमें देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको दुःख-समूह भोगना पड़ता है—अनन्त क्लेश भोगने पड़ते हैं, इसलिये इस समस्त सम्बंधको जो कि मन, वचन, कायकी क्रियासे हुआ करते हैं, मनसे, वचनसे, कायसे छोड़ता हूँ । अभिप्राय यह है कि मन, वचन, कायका आलम्बन लेकर चंचल होनेवाले आत्माके प्रदेशोंको भावोंसे रोकता हूँ । 'आत्मा, मन वचन कायसे भिन्न है,' इस प्रकारके अभ्याससे सुखरूप एक फलवाले मोक्षकी प्राप्ति होती है, और मन, वचन, कायसे आत्मा अभिन्न है, इस प्रकारके अभ्याससे दुःखरूप एक फलवाले संसारकी प्राप्ति होती है, जैसा कि पूज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—"स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्०"

"जबतक शरीर, वाणी, और मन इन तीनोंको ये 'स्व हैं-अपने हैं' इस रूपमें गृहण करता रहता है। तबतक संसार होता है, और जब इनसे भेद-बुद्धि करनेका अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति होजाती है ।" ॥ २८ ॥

दोहा—प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात।
याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात ॥ २८ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल–शरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्यके साथ जैसा कि आगममें सुना जाता है, जीवका सम्बंध है। उस सम्बंधके कारण ही जीवका मरण व रोगादिक होते हैं, तथा मरणादि सम्बंधी बाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावनासे हटाया जावे? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अन्वय—मे मृत्युर्न, कुतः भीतिः मे व्याधिर्न व्यथा कुतः, अहं न बालः, नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुद्गले।

टीका—न मे एकोऽहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति। चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात्। यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादेर्भीतिर्भयं मम स्यान्न कुतश्चिदपि बिभेमीत्यर्थः। तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्तसंबन्धित्वाद्वातादीनाम्। यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादिविकारात् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुःखैरभिभूयेय अहमिति सामर्थ्यादत्र द्रष्टव्यम्। तर्हि क्व मृत्युप्रभृतीनि स्युरित्याह—एतानि मृत्युव्याधिबालादीनि पुद्गले मूर्ते देहादावेव संभवन्ति। मूर्तधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितरामसंभवात्। भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशङ्कते तर्ह्येतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यन्तीति यद्युक्तनीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादिवस्तून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानीं भेदभावनावष्टम्भान्मया त्यक्तानि। चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकराणि किमितीमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयकरीणि मम भविष्यन्ति। अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति[1] तन्नेति यतः—॥२९॥

अर्थ—मेरी मृत्यु नहीं तब डर किसका? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे? न मैं बालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ। ये सब बातें (दशाएं) पुद्गलमें ही पाई जाती हैं।

विशदार्थ—"एकोहं निर्ममः शुद्धः" इत्यादिरूपसे जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो मैं हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्शक्तिरूप भावप्राणोंका कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरणके कारणभूत काले नाग आदिकोंसे मुझे भय क्यों? अर्थात् मैं किसीसे भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदिकी विषमताको व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थसे ही सम्बंध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारोंसे मुझे व्यथा तकलीफ कैसी? उसी तरह मैं बाल वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ। तब बाल वृद्ध आदि अवस्थाओंसे पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशोंसे मैं कैसे दुःखी हो सकता हूँ? अच्छा यदि मृत्यु वगैरह आत्मामें नहीं होते, तो किसमें होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल वृद्ध

---

१ करोति।

आदि दशाएं पुद्गल-मूर्त शरीर आदिकोंमें ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थोंके धर्म हैं। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।

दोहा—मरण रोग मोमें नहीं, तातें सदा निशंक।
बाल तरुण नहिं वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक ॥ २९ ॥

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीतिके अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही परन्तु जो जन्मसे लगाकर अपनाई गई थी और भले ही जिन्हें मैंने भेद-भावनाके बलसे छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकालके अभ्यस्त-अभेद संस्कारके वशसे पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं कि 'अपनी इन चीजोंको मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

अन्वय—मोहात् सर्वेऽपि पुद्गलाः मया मुहुर्भुक्तोज्झिताः उच्छिष्टेष्विव तेषु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा।

टीका—मोहादविद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गला मया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव भोजनगन्धमाल्यादिषु स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु[1] पुद्गलेषु का स्पृहा? न कदाचिदपि। वत्स! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिन्तयिन्यम्। अत्राह शिष्यः। अथ कथं ते निबध्यन्त इति। अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्ते इत्यर्थः। गुरुराह —॥ ३० ॥

अर्थ—मोहसे मैंने समस्त ही पुद्गलोंको बार बार भोगा, और छोड़ा। भोग भोगकर छोड़ दिया। अब जूठनके लिए (मानिन्द) उन पदार्थोंमें मेरी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उन भोगोंके प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।

विशदार्थ—अविद्याके आवेशके वशसे अनादिकालसे ही मुझ संसारीजीवने कर्म आदिके रूपमें समस्त पुद्गलोंको बार बार पहिले भोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मत्वादि रहित) कर करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूँठन-उच्छिष्ट भोजन, गन्ध, माला[illegible]में जैसे लोगोंको फिर भोगनेकी स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञानसे विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्गलोंमें क्या अभिलाषा हो सकती है? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये॥ ३० ॥

---

१ फेलाभुक्तसमुज्झितम्। अ.। भुक्त्वा त्यक्तमित्यर्थः।

दोहा—सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग।
मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिष्टमें राग ॥ ३० ॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि वे पुद्गल क्यों बँध जाते हैं ? अर्थात् जीवके द्वारा पुद्गल क्यों और किस प्रकारसे हमेशा बन्धको प्राप्त होते रहते हैं ?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं:—

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥ ३१ ॥

अन्वय—कर्म, कर्महिताबन्धि, जीवः जीवहितस्पृहः स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।

" कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ। जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइ वइराइ ॥ " इत्यभिधानात्पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

" जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन " ॥ १२ ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

"परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः। भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्गलिकं कर्म तस्यापि" ॥१३॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपायः

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनन्तसुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकाङ्क्षति। अत्र दृष्टान्तमाह-स्वस्वेत्यादि निजनिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को न वञ्छति सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थः। ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्म सञ्चिनोतीति। यतश्चैवं ततः— ॥ ३१ ॥

अर्थ—कर्म कर्मका हित चाहते हैं। जीव जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने अपने प्रभावके बढ़नेपर कौन अपने स्वार्थको नहीं चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विशदार्थ—कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाते हैं। इस तरह जीव और कर्मोंका पहिलेसे (अनादिसे) ही बैर चला आरहा है। ऐसा कहनेसे मतलब यह निकला कि पूर्वोपार्जित बलवान् द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीवमें औदयिक आदि भावोंको पैदा कर नये द्रव्यकर्मोंको ग्रहणकर अपनी संतानको पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—" जीवकृतं परिणामं० " " परिणममानस्य० "

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्गल, खुद ब-खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामोंसे स्वयं ही परिणमनेवाले

जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है । तथा कालादि लब्धिसे बलवान् हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होनेसे उपकार करनेवाले स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्षको चाहता है। यहाँपर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि " अपने अपने माहात्म्यके प्रभावके बढ़नेपर स्वार्थको अपनी अपनी उपकारक वस्तुको कौन नहीं चाहता ? सभी चाहते हैं ॥ ३१ ॥

दोहा—कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार।
निज प्रभाव बल देखकर, को न स्वार्थ करतार ॥ ३१ ॥

इसलिये समझो कि कर्मोंसे बँधा हुवा प्राणी कर्मोंका संचय किया करता है। जबकि ऐसा है तब—

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

अन्वय—परोपकृतिं उत्सृज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य परस्य उपकुर्वन् अज्ञः लोकवत् ।

टीका—परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याऽभ्यासेन त्यक्त्वात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वम्। किं कुर्वन्सन्, उपकुर्वन्। कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्येन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः। किंविशिष्टो यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवल्लोकवत्। यथा लोकः परं परत्वेनाजानंस्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः। अथाह शिष्यः। कथं तयोर्विशेष इति केनोपायेन स्वपरयोर्भेदो विज्ञायेत। तद्वि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः। गुरुराह—॥ ३२ ॥

अर्थ—परके उपकार करनेको छोड़कर अपने उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। इंद्रियोंके द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकोंका उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो। तुम्हें चाहिये कि दुनियाँकी तरह तुम भी अपनी भलाई करनेमें लगो।

विशदार्थ—पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोहके वशसे जो उपकार किया जाता रहा है, उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागताके अभ्याससे छोड़कर प्रधानतासे अपने (आत्माके) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुभवमें आनेवाले इन शरीरादिकोंकी रक्षा करना आदि रूप उपकार करनेमें लगे हुए हो। इसलिये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपसे अजान) हो। सो जैसे दुनियाके लोग जबतक दूसरेको दूसरे रूपमें नहीं जानते, तबतक उनका उपकार करते हैं। परन्तु ज्यों ही वे अपनेको अपना और दूसरेको दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरोंका) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करनेमें लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी बनकर अपनेको स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करनेमें तत्पर हो जाओ ॥ ३२ ॥

दोहा—प्रगट अन्य देहादिका, मूढ़ करत उपकार।
सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार ॥ ३२ ॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि किस उपायसे अपने और परमें विशेपता (भेद) ज जाती है, और उसके जाननेवालेको क्या होगा ? किस फलकी प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते हैं-

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् ।
जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—यः गुरूपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरं जाना

टीका—यो जानाति । किं तत्स्वपरान्तरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः । कु संवित्तेर्लक्षणतः स्वलक्ष्यानुभवात् । एषोपि कुतः, अभ्यासात् अभ्यासभावनातः । एषोऽपि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्‍ त्मनश्च सुदृढस्वपरविवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौख्यं निरन्तरमविच्छिन्नमनुभवति कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने,—

" तदेवानुभवंश्चायमेकाग्रं परमृच्छति । तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम् " ॥ १७० ॥—तत्त्वानुशासनम्

अथ शिष्यः पृच्छति—कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषये । गुरुराह— ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो गुरुके उपदेशसे अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने अं परके अन्तर को (भेदको) जानता है। वह मोक्षसम्बंधी सुखका अनुभवन करता रहता है ।

विशदार्थ—गुरु कहिये धर्माचार्य अथवा गुरु कहिये स्वयं आत्मा, उसके उपदेशसे सुद स्वपर विवेक ज्ञानके पैदा करनेवाले वाक्योंके और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये बार बार अभ्यास करनेसे संवित्ति-अपने लक्ष्यका अनुभव होने लगता है। उस संवित्ति (स्वसंवेदन के द्वारा जो स्वात्माको परसे भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुखकं निरन्तर-हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है। क्योंकि वह मोक्ष-सुखका अनुभव, कर्मोंर भिन्न आत्माका अनुभवन करनेवालोंको होता है, अन्योंको नहीं । जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—" तदेवानुभवंश्चाय०, "

उस आत्माका अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रताको प्राप्त कर लेता है, औ इसी तरह मन तथा वाणीके अगोचर अथवा वचनोंसे भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनन्दको प्राप्त कर लेता है ॥ ३३ ॥

दोहा—गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुभवसे भेद ।
निज पर को जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद ॥ ३३ ॥

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुखके अनुभवके विषयमें कौन गुरु होता है? आचार्य कहते हैं—

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्वयं स्वस्मिन् सदभिलाषित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हितप्रयोक्तृत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति ।

टीका—यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य तदुपायं तं ज्ञापयति । तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः । एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात् । कुत इत्याह—स्वयमात्मना स्वस्मिन्मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि सत् प्रशस्तं मोक्षसुखमभीक्ष्णमभिलषति । मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकाङ्क्षतीत्येवं भयात् । तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृत्वात् । अस्मिन्सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्त इति । तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अथ शिष्यः साक्षेपमाह । एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुः । मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धान्तप्रसङ्गादिति वदन्तं प्रत्याह,—॥ ३४ ॥

अर्थ—जो सत्का कल्याणका वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायोंको जतलाता है, तथा हितका प्रवर्त्तक होता है, वह गुरु कहलाता है । जब आत्मा स्वयं ही अपनेमें सत्की —कल्याणकी यानी मोक्ष-सुखकी अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुखके उपायोंको जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप (आत्मा) ही है ।

विशदार्थ—यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत्की यानी मोक्ष-सुखकी हमेशा अभिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे । इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुखके उपायोंको जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्षके सुखके उपायोंको जतलानेवाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय मुझे करना चाहिये । इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपायमें लगानेवाला भी वह स्वयं होजाता है, कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपायमें हे दुरात्मन् आत्मा ! तुम आजतक अर्थात् अभीतक भी प्रवृत्त नहीं हुए । इस प्रकार अभीतक न प्रवर्तनेवाले आत्माका प्रवर्तक भी हुआ करता है । इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याणका चाहनेवाला, अपनेको सुखोपाय बतलानेवाला, और सुखोपायमें प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे अपना गुरु है ॥ ३४ ॥

दोहा—आपहिं निज हित चाहता, आपहि ज्ञाता होय ।
आपहिं निज हित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय ॥ ३४ ॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरोंकी क्यों सेवा करनी होगी ? बस जब आपसमें खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकोंकी सेवा मुमुक्षुओंको नहीं करनी होगी । ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा माननेसे अपसिद्धान्त हो जायगा । ऐसे बोलनेवाले शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अन्वय—अज्ञः विज्ञत्वं न आयाति विज्ञः अज्ञत्वं न ऋच्छति गतेर्धर्मास्तिकायवत् अन्यस्तु निमित्तमात्रम् ।

टीका—भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्त्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति । तथा चोक्तम्—

"स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ, क्रियागुणमपेक्ष्यते । न व्यापारशतेनापि-शुकवत्पाठ्यते बकः" ॥

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमपायसहस्रेणापि न गच्छति । तथा चोक्तम्—

"वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके, मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।

बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः, सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु" ॥ ६३ ॥–पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका पृ० ३३

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात् । कस्याः को यथेत्यत्राह , गतेरित्यादि । अयमर्थो-यथा युगपद्भाविगति-परिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या । अथाह शिष्यः—अभ्यासः कथमिति । अभ्यासप्रयोगोपाय-प्रश्नोऽयम् । अभ्यासः कथ्यत इति क्वचित्पाठः । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोभूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्तस्य स्थाननियमादिरूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः । एवं संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यम् । तथा च गुरोरवैते वाक्ये व्याख्येये । शिष्यबोधार्थं गुरुराह—॥ ३५ ॥

अर्थः—तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञानको धर्मा-चार्यादिकोंके हजारों उपदेशोंसे भी नहीं प्राप्त कर सकता है। जैसा कि कहा गया है "स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ०"

"कोई भी प्रयत्न कार्यकी उत्पत्ति करनेके लिये स्वाभाविक गुणकी अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारोंसे भी बगुला तोतेकी तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्त्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञानसे छूटकर हजारों उपायोंके द्वारा भी अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है—"वज्रे पतत्यपि०"

"जिसके कारण भयसे घबराई हुई सारी दुनियाँ मार्गको छोड़कर इधर उधर भटकने लग जाय, ऐसे वज्रके गिरनेपर भी अतुल शांतिसम्पन्न योगिगण योगसे (ध्यानसे) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीपसे जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्धकारको नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव क्या शेष परीषहोंके आनेपर चलायमान हो जायँगें? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।"

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तोंका निराकरण ही हो जायगा? इसके विषयमें जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्यके उत्पादनमें

१ सामर्थ्यस्य ।

तथा विध्वंसनमें सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वास्तवमें किसी कार्यके होने व बिगड़नेमें उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणामके लिये उन्मुख हुए पदार्थोंमें गतिकी साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थोंकी ही गमन करनेकी शक्ति है। क्योंकि यदि पदार्थोंमें गमन करनेकी शक्ति न होवे तो उनमें किसीके द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गति करानेमें सहायकरूप द्रव्यविशेष है। इसलिये वह गतिके लिये सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही बात प्रकृतमें भी जाननी चाहिये। इसलिये व्यवहारसे ही गुरु आदिकोंकी सेवा शुश्रूषा आदि की जानी चाहिये॥ ३५॥

दोहा—मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है?' इसमें अभ्यास करनेके उपायोंको पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायोंको कहते हैं। बार बार प्रवृत्ति करनेको अभ्यास कहते हैं। यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये स्थान कैसा होना चाहिए? कैसे नियमादि रखने चाहिये? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथमें संवित्तिका भी वर्णन करते हैं।

अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ ३६॥

अन्वय—अभवच्चित्तविक्षेपः तत्त्वत्संस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्येत्।

टीका—अभ्यस्येद्भावयेत्कोसौ, योगी संयमी। किं, तत्त्वं याथात्म्यं। कस्य, निजात्मनः। केन, अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन। क्व, एकान्ते योग्यशून्यगृहादौ। किंविशिष्टः सन्, अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयमित्थंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा, तथाभूत इत्याह। तत्त्वसंस्थितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरूपदेशान्निश्चलधीः यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तकायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः। अथाह शिष्यः संवित्तिरिति। अभ्यासः कथमित्यनुवर्त्यते नायमर्थः संयम्यते। भगवन्नुक्तलक्षणा संवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते। अत्राचार्यो वक्ति। उच्यत इति। धीमन्नाकर्णय वर्ण्यते तल्लिङ्गं तावन्मयेत्यर्थः॥ ३६॥

अर्थ—जिसके चित्तमें क्षोभ नहीं है, जो आत्मा स्वरूप रूपमें स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थानमें अपने आत्माके स्वरूपका अभ्यास करे।

विशदार्थ—नहीं हो रहे हैं चित्तमें विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वोंमें गुरुके उपदेशसे जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूपसे साध्यभूत वस्तुमें भले प्रकारसे—यानी जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकोंसे व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी

अपनी आत्माके ठीक ठीक स्वरूपका एकान्त स्थानमें—योगीके लिये योग्य ऐसे शून्य गृहोंमें ? पर्वतोंकी गुहा कंदरादिकोंमें, आलस्य निद्रा आदिको दूर करते हुए अभ्यास करे ॥ ३६ ॥

दोहा—क्षोभ रहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित धाय ।
सावधान हो संयमी, निज स्वरूपको भाय ॥ ३६ ॥

यहाँपर शिष्य पूछता है, कि भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है ।' यह बात योगीको किस तरहसे मालूम हो सकती है ? और उसकी हरएक क्षणमें उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है ? आचार्य कहते हैं कि हे धीमन् ? सुनो मैं उसके चिन्हका वर्णन करता हूँ—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

अन्वय—यथा यथा संवित्तौ उत्तमं तत्त्वं समायाति तथा तथा सुलभा अपि विषया न रोचन्ते ।

टीका—येन येन प्रकारेण संवित्तौ विशुद्धात्मस्वरूपं सांमुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासलभ्या अपि रम्येन्द्रियार्था भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति । महासुखलब्धावऽल्पसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात् । तथा चोक्तम्—

"शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः । स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ॥१॥"

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—॥ ३७ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों संवित्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूपका अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगीको आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नहीं लगते ।

विशदार्थ—जिस जिस प्रकारसे योगीकी संवित्तिमें (स्वानुभवरूप संवेदनमें) शुद्ध आत्माका स्वरूप झलकता जाता है, सम्मुख आता है, तैसे-तैसे विना प्रयाससे, सहजमें ही प्राप्त होनेवाले रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धिको पैदा नहीं कर पाते हैं । ठीक ही है, दुनियाँमें भी देखा गया है कि महान् सुखकी प्राप्ति होजानेपर अल्प सुखके पैदा करनेवाले कारणोंके प्रति कोई आदर या-ग्राह्य-भाव नहीं रहता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—
" शमसुखशीलित० "

" जिनका मन शांति-सुखसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषोंको भोजनसे भी द्वेष हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता । फिर और विषय भोगोंकी तो क्या चलाई ? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं ? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते । हे वत्स ! देखो, जब मछलीके अंगोंको जमीन ही जला देनेमें समर्थ है, तब अग्निके अंगारोंका तो कहना ही क्या ? वे तो जला ही देंगे । इसलिये विषयोंकी अरुचि ही योगीकी स्वात्म-संवित्तिको प्रकट कर देनेवाली है । "

स्वात्म-संवित्तिके अभाव होनेपर विषयोंसे अरुचि नहीं होती और विषयोंके प्रति अरुचि बढ़नेपर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है ॥ ३७ ॥

दोहा—जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय ॥
तस तस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥ ३७ ॥

उपरिलिखित भावको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं—

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यथा यथा सुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्त्वं संवित्तौ समायाति।

अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानम् । तथा चोक्तम्—

" विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकम् ।

हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः " ॥ २ ॥—नाटकसमयसार-कलशाः जीवाजीवाधिकारः ।

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—॥ ३८ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों सहजमें भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यों त्यों स्वात्म-संवेदनमें निजात्मानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है ।

विशदार्थ—विषय भोगोंके प्रति अरुचि भाव ज्यों ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों त्यों योगीके स्वात्म-संवेदनमें निजात्मानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है । कहा भी है—" विरम किमपरेणा० "

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वत्स ! ठहर, व्यर्थके ही अन्य कोलाहलोंसे क्या लाभ ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर । देख, हृदयरूपी सरोवर में पुद्गलसे भिन्न तेजवाली आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति)॥ ३८॥

दोहा—जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ।
तस तस आतम तत्त्वमें, अनुभव बढ़ता जाय ॥ ३८ ॥

हे वत्स !—स्वात्मसंवित्तिके बढ़नेपर क्या क्या बातें होती हैं, किस रूप परिणति होने लगती है, आदि बातोंको सुन—

---

१ 'विरम किमपरेणा०'का कितना सुन्दर भावपूर्ण सवैया स्व. कविवर बनारसीदासजीने समयसारनाटकमें कहा है—" भैया जगवासी तू उदासी व्है कें जगत सौं, एक छः महीना उपदेस मेरो मानु रे । और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठके एकंत मन ठौरु आनु रे ॥ तेरो घट-सर तामैं तूही है कमल ताकौ, तूही मधुकर सुवास पहिचानु रे । प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है, सही व्है है प्रापति सरूप यों ही जानु रे ॥ ३ ॥

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय—योगी निश्शेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलाभाय स्पृहयति अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते।

टीका—योगीत्यन्तदीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः। स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातमवश्योपेक्षणीय-तया हानोपादानबुद्धिविषयत्वादिन्द्रजालिकोपदर्शितसर्पंहारादिपदार्थसदृशं पश्यति । तथात्मलाभाय स्पृहयति चिदानन्द-स्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति। तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनोवाक्कायैर्गत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आ कथं मयेदमनात्मीनमनुष्ठितमिति पश्चात्तापं करोति। तथा,—॥ ३९ ॥

अर्थ—योगी समस्त संसारको इन्द्रजालके समान समझता है। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषयमें उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चात्ताप करता है।

विशदार्थः—श्लोक नं. ४२ में कहे गये "योगी योगपरायणः" शब्दको अन्त्यदीपक होनेसे सभी "निशामयति स्पृहयति" आदि क्रियापदोंके साथ लगाना चाहिये। स्वात्म-संवेदन करनेमें जिसे आनन्द आया करता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जंगमरूप समस्त बाहिरी वस्तु-समूहको त्याग और ग्रहण विषयक बुद्धिका अविषय होनेसे अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालियाके द्वारा दिखलाये हुए सर्प हार आदि पदार्थोंके समूहके समान देखता है। तथा चिदानन्द–स्वरूप आत्माके अनुभवकी इच्छा करता है। और अपनी आत्माको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुमें पहिले संस्कार आदि कारणोंसे यदि मनसे, वचनसे, वा कायसे, प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँसे हटकर खुद ही पश्चात्ताप करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आत्माका अहित कर डाला ॥ ३९ ॥

दोहा—इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात।
अन्य विषय में जात यदि, तो मनमें पछतात ॥ ३९ ॥

आत्मानुभवीके और भी चिन्होंको दिखाते हैं—

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥ ४० ॥

अन्वय—(योगी) निर्जनं जनितादरः एकान्तसंवासं इच्छति। निजकार्यवशात् किंचिदुक्त्वा द्रुतं विस्मरति।

टीका—एकान्ते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थानमभिलषति। किंविशिष्टः सन्, जनितादरो जनमनोरञ्जनचमत्कारि-मन्त्रादि-प्रयोगवार्त्तानिवृत्तौ कृतप्रयत्नः। कस्मै निर्जनं जनाभावाय स्वार्थवशा-ल्लाभालाभादिप्रश्नार्थं लोकमुपसर्पन्तं निषेध्यमित्यर्थः। ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः। तथा चोक्तम्—

" गुरूपदेशमासाद्य, समभ्यस्यन्ननारतम्। धारणासौष्ठवाद्ध्यानप्रत्ययानपि पश्यति " ॥

तथा स्वस्वावश्यकरणीयभोजनादिपारतन्त्र्यात्किंचिदल्पमसमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरति। भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति। तथा—

अर्थ—निर्जनताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासकी इच्छा करता है, और निज कार्यके वशसे कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है।

विशदार्थ—लोगोंके मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र तन्त्र आदिके प्रयोग करनेकी वार्त्ताएं न हुआ करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलबसे लाभ-अलाभ आदिकके प्रश्न पूछनेके लिये आनेवाले लोगोंको मना करनेके लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभावसे ही जनशून्य ऐसे पहाड़ोंकी गुहा कन्दरा आदिकोंमें गुरुओंके साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोक-चमत्कारकारी बहुतसे विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है—" गुरूपदेशमासाद्य० "

"गुरुसे उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, धारणाओंमें श्रेष्ठता प्राप्त हो जानेसे ध्यानके अतिशयोंको भी देखने लग जाता है।" अपने शरीरके लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके वशसे कुछ थोड़ासा श्रावकादिकोंसे "अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि" कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवन्! क्या कह रहे हो? ऐसा श्रावकादिकोंके द्वारा पूछे जानेपर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता। तथा—॥४०॥

दोहा—निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार।
निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार ॥ ४० ॥

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

अन्वय—स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु ब्रुवन् अपि न ब्रूते गच्छन् अपि न गच्छति पश्यन् अपि न पश्यति।

टीका—स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरूपो योगी संस्कारवशात्परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति ह्यपिशब्दार्थः। न ब्रूते हि न भाषत एव। तत्राभिमुख्याभावात्। उक्तं च—

" आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्। कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः " ॥५०॥—समाधिशतकम्

तथा भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्यपि। तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नावलोकयत्येव। तुरेवार्थः। तथा—॥४१॥

अर्थ—जिसने आत्म-स्वरूपके विषयमें स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसे योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, और देखते हुए भी नहीं देखता है।

विशदार्थ—जिसने अपनेको दृढ़ प्रतीतिका विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारोंके वशसे या दूसरोंके संकोचसे धर्मादिकका व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनको बोलनेकी ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता। जैसा कि कहा है—" आत्मज्ञानात्परं कार्यं० "

" आत्म-ज्ञानके सिवा दूसरे कार्यको अपने प्रयोगमें चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न ठहरने देवे। किसी प्रयोजनके वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीरके द्वारा करे। इसी प्रकार भोजनके लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रतिमादिकोंको देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये। फिर—॥ ४१ ॥

दोहा—देखत भी नहिं देखते, बोलत बोलत नाहिं।
दृढ़ प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं ॥ ४१ ॥

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

अन्वय—योगपरायणः योगी किम् इदं, कीदृशं, कस्य, कस्मात्, क्व इति अविशेषयन् स्वदेहम् अपि न अवैति।

टीका—इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात्कस्य सकाशात्क्व कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणः समरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहमपि न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्तवस्तुचेतनायाः। तथा चोक्तम्—

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि। अन्यन्न किंचनाभाति, स्वमेवात्मनि पश्यतः " ॥१७२॥-तत्त्वानुशासनम्

अत्राह शिष्यः—कथमेतदिति। भगवन् विस्मयो मे कथमेतदवस्थान्तरं संभवति। गुरुराह—धीमन्निबोध ॥४२॥

अर्थ—ध्यानमें लगा हुआ योगी यह क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादिक विकल्पोंको न करते हुए अपने शरीरको भी नहीं जानता।

विशदार्थ—यह अनुभवमें आ रहा अन्तस्तत्त्व, किस स्वरूपवाला है? किसके सदृश है? इसका स्वामी कौन है? किससे होता है? कहाँपर रहता है? इत्यादिक विकल्पोंको न करता हुआ किन्तु समरसीभावको प्राप्त हुआ योगी जो अपने शरीरतकका भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीरसे भिन्न वस्तुओंकी चिन्ता करनेकी बात ही क्या? जैसा कि कहा गया है—" तदा च परमैका० "

यहाँपर शिष्य कहता है कि भगवन्! मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशाका होजाना कैसे सम्भव है?

उस समय आत्मामें आत्माको ही देखनेवाले योगीको बाहिरी पदार्थोंके रहते हुए भी परम एकाग्रता होनेके कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है ॥ ४२ ॥

दोहा—क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम।
तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम् ॥ ४२ ॥

आचार्य कहते हैं, धीमन्! सुनो समझो—

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

अन्वय—यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र रतिं कुरुते यो यत्र रमते स तस्मान्न गच्छति।

टीका—यो जनो यत्र नगरादौ स्वार्थे सिद्धयङ्गत्वेन बद्धनिर्बन्धवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तस्मिन्नन्यस्मान्नि-वृत्तचित्तत्वान्निर्वृतित्वं लभते। यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं प्रतीतम्। अतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोऽननुभूतापूर्वानन्दानुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति। अन्यत्राप्रवर्त्तमानश्चेदृक् स्यात्—॥४३॥

अर्थ—जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है। और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँसे फिर हटता नहीं है।

विशदार्थ—जो मनुष्य, जिस नगरादिकमें स्वार्थकी सिद्धिका कारण होनेसे बन्धुजनोंके आग्रहसे निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमें अन्य तरफसे चित्त हटाकर आनन्दका अनुभवन करने लग जाता है। और जो जहाँ आनन्दका अनुभव करता रहता है, वह वहाँसे दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं। इसलिये समझो कि आत्मामें अध्यात्ममें रहनेवाले योगी अननुभूत (जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्दका अनुभव होते रहनेसे उसकी अध्यात्मके सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ४३ ॥

दोहा—**जो जामें बसता रहे, सो तामें रुचि पाय।**
जो जामें रम जात है, सो ता तज नहिं जाय ॥ ४३ ॥

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है? उसे आगेके श्लोकमें आचार्य कहते हैं—

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु, वध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

अन्वय—अगच्छन् तद्विशेषाणां अनभिज्ञश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न बध्यते, विमुच्यते।

टीका—स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन्नप्रवर्तमानस्तस्य स्वात्मनाऽन्यस्य देहादविशेषाणां सौन्दर्यासौन्दर्यादि-धर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति। अज्ञाततद्विशेषः पुनस्तत्राजायमानरागद्वेषत्वात्कर्मभिर्न बध्यते। किं तर्हि! विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते। किं च ॥ ४४ ॥

अर्थ—अध्यात्मसे दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिककी सुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मोंकी ओर विचार नहीं करता। और जब उनके विशेषोंको नहीं जानता, तब वह बंधको प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेष रूपसे छूट जाता है।

विशदार्थ—स्वात्मतत्त्वमें स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्मसे भिन्न दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब उस स्वात्मासे भिन्न शरीरादिके सौन्दर्य असौन्दर्य आदि विशेषोंसे अनभिज्ञ हो जाता है। और जब उनकी विशेषताओंपर ख्याल नहीं करता, तब उनमें राग द्वेष पैदा न होनेके कारण कर्मोंसे बँधता नहीं है, किन्तु व्रतादिकका आचरण करनेवालोंकी अपेक्षा भी कर्मोंसे ज्यादा छूटता है ॥ ४४ ॥

दोहा—वस्तु विशेष विकल्प को, नहिं करता मतिमान।
स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नहिं बँधता गुणवान॥ ४४॥

और भी कहते हैं—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥ ४५॥

अन्वय—परः परः ततो दुःखं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।

टीका—परो देहादिरर्थः पर एव कथंचिदपि तस्यात्मीकर्तुमशक्यत्वात्। यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणो दुःखमेव स्यात्तद्द्वारत्वाद् दुःखनिमित्तानां प्रवृत्तेः। तथा आत्मा आत्मैव स्यात्। तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वानुपादानात्। यतश्चैवं ततस्तस्मात्सुखं स्याद्दुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात्। यतश्चैवम् अत एव महात्मानस्तीर्थकरादयस्तस्मिन्निमित्तमात्मार्थं कृतोद्यमा विनिहिततपोनुष्ठानाभियोगा संजाताः। अथ परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति;—॥४५॥

अर्थ—दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसलिये उससे सुख होता है। इसीलिये महात्माओंने आत्माकेलिये ही उद्यम किया है।

विशदार्थ—पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरहसे भी उन्हें आत्मा या आत्माके सदृश नहीं बनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्माके मान लेनेसे) दुःख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंकी प्रवृत्ति उन्हींके द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंको वह अपनाता ही नहीं है। इसी लिये तीर्थंकर आदिक बड़े बड़े पुरुषोंने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये अनेक प्रकारके तपोंके अनुष्ठान करनेमें निद्रा आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है॥ ४५॥

दोहा—पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय।
महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय॥ ४५॥

परद्रव्योंमें अनुराग करनेसे होनेवाले दोषको दिखाते हैं—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुञ्चति॥ ४६॥

अन्वय—यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं अभिनन्दति तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्यं जातु न मुञ्चति।

टीका—यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनन्दति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबन्धं जातु कदाचिदपि न त्यजति। अथाह शिष्यः—स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगमम्। गुरुराह—॥ ४६॥

अर्थ—जो हेयोपादेयके स्वरूपको न समझनेवाला, शरीरादिक पुद्गल द्रव्यको आप (आत्म) रूप तथा अपनेको (आत्माके) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियोंमें वह पुद्गल अपना सम्बंध नहीं छोड़ता है, अर्थात् भव-भवमें वह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ बँधा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छूट पाता ॥ ४६ ॥

दोहा—पुद्गलको निज जानकर, अज्ञानी रमजाय।
चहुँगतिमें ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ॥ ४६ ॥

आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवालेको क्या होता है ?

आचार्य कहते हैं—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

अन्वय—आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः योगिनः योगेन कश्चित् परमानन्दो जायते।

टीका—आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचरः परमोऽनन्यसंभवी आनन्द उत्पद्यते। तत्कार्यमुच्यते—॥ ४७ ॥

अर्थ—देहादिकसे हटकर अपने आत्मामें स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण-वाले व्यवहारसे बाहिर दूर रहनेवाले ध्यानी योगी पुरुषको आत्म-ध्यान करनेसे कोई एक वचनोंके अगोचर परम जो दूसरोंको नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है ॥ ४७ ॥

दोहा—ग्रहण त्यागसे शून्य जो, निज आतम लवलीन।
योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानन्द नवीन ॥ ४७ ॥

उस आनन्दके कार्यको बताते हैं—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

अन्वय—(सः) आनन्दः उद्धं कर्मेन्धनम् अनारतं निर्दहति योगी असौ च बहिर्दुःखेषु अचेतनः न खिद्यते।

टीका—स पुनरानन्द उद्धं प्रभूतं कर्मसंततिं निर्दहति। वह्निरिन्धनं यथा। किं च असावानन्दाविष्टो योगी बहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषुअचेतनोऽसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति। यस्मादेवं तस्मात्—॥४८॥

अर्थ—जैसे अग्नि, ईन्धनको जला डालता है, उसी तरह आत्मामें पैदा हुआ परमानन्द, हमेशासे चले आए प्रचुर कर्मोंको अर्थात् कर्म-सन्ततिको जला डालता है, और आनन्द सहित योगी, बाहिरी दुःखोंके—परीषह उपसर्ग संबंधी क्लेशोंके अनुभवसे रहित हो जाता है। जिससे खेदको (संक्लेशको प्राप्त नहीं होता) ॥ ४८ ॥

दोहा—निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ठ अधिकाय।
बाह्य दुःख नहिं वेदता, योगी खेद न पाय ॥ ४८ ॥

इसलिये—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः मुमुक्षुभिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

टीका—तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभासात्मकं परमुत्कृष्टमविद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलम् इन्द्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुमुक्षुभिर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यम् । तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयम् । एवं व्युत्पाद्य विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह किं बहुनेति । हे सुमते किं कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेशयितुं शक्यत्वादिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्थ—अविद्याको दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है । सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसीके विषयमें पूछना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये, और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये ।

विशदार्थ—वह आनन्द स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विभ्रमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है । मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोंसे उसीके विषयमें पूछ-ताछ करें । तथा उसीको चाहें, एवं उसीका अनुभव करें ॥ ४९ ॥

दोहा—पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार ।
मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥ ४९ ॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणासे उस कहे हुए अर्थस्वरूपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमें बैठालनेकी इच्छासे कहते हैं कि "हे सुमते-अच्छी बुद्धिवाले ! बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोंको संक्षेपमें भी बुद्धिमानोंके हृदयोंमें उतारा जा सकता है । उन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है ।"

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ ५० ॥

अन्वय—जीवः अन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्त्वसंग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्यैव विस्तरः अस्तु ।

टीका—जीवो देहादेर्भिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असौ विधीयते आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यत्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादन्यदतिरिक्तं किंचिद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयाचार्यैरुच्यते स तस्यैव विस्तरो व्यासो यस्तु तमपि वयमभिनन्दाम इति भावः ॥ ५० ॥

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति;—

अर्थ—'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है,' बस इतना ही तत्त्वके कथनका सार है, इसीमें सब कुछ आ गया । इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है ।

विशदार्थ—'जीव, शरीरादिकसे भिन्न है 'शरीरादिक जीवसे भिन्न है' बस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रहके सिवाय भेद प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिष्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है, और पुद्गल जुदा है,' समझानेके लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं ॥ ५० ॥

दोहा—जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्वका सार।
अन्य कछू व्याख्यान जो, याहीका विस्तार ॥ ५० ॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवाले फलको बतलाते हैं—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः॥ ५१ ॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति।

टीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानम् उपदिश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशो नाम ग्रन्थस्तं सम्यग्व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा चिन्तयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीवः मुक्तिश्रियमनन्तज्ञानादिसंपदं निरुपमामनौपम्यां प्राप्नोति। किं कुर्वन्मुक्ताग्रहो वर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन्। कि कृत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्य। कां, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समतां रागद्वेषयोरभावम् कस्माद्धेतोः, स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिन्तनजनितादात्मज्ञानात्। उक्तं च—॥ ५१ ॥

"यदा मोहात्प्रजायेते, रागद्वेषौ तपस्विनः। तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात्" ॥ ३९ ॥-समाधिशतकम्।

अर्थ—इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमें समताका विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमें विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विशदार्थ—इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको। इस इष्टका उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थको कहते हैं 'इष्टोपदेश'। इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चयसे पठन एवं चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमें राग-द्वेषको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-ग्रामादिकोंमें अथवा निर्जन-वनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है

बाहिरी पदार्थोंमें मैं और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणोंको और सम्पत्तिरूप मुक्ति-लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है "यदा मोहात्प्रजायेते०" ॥

जिस समय तपस्वीको मोहके उदयसे मोहके कारण राग द्वेष पैदा होने लगें, उस समय शीघ्र ही अपनेमें स्थित आत्माकी समतासे भावना करे, अथवा स्वस्थ आत्माकी भावना भावे, जिससे क्षण-भरमें वे राग द्वेष शान्त हो जावेंगे ॥ ५१ ॥

दोहा—इष्टरूप उपदेशको, पढ़े सुबुद्धी भव्य।
मान अमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तव्य ॥ ५१ ॥
आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वनमें सु वसेय।
उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय ॥ ५२ ॥

आगे इस ग्रन्थके संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि—

प्रशस्तिः

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना। इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥

अर्थ—विनयचन्द्र नामक मुनिके वाक्योंका सहारा लेकर भव्य प्राणियोंके उपकारके लिये मुझ आशाधर पंडितने यह इष्टोपदेश नामक ग्रन्थकी टीका की है।

उपशम इव मूर्तः सागरेन्दोर्मुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भा शास्त्रसंदर्भगर्भाः, शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥ २ ॥

अर्थ—सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्रसे विनयचन्द्र हुए जो कि उपशमकी (शांतिकी) मानो मूर्ति ही थे, तथा सज्जन पुरुषरूपी चकोरोंके लिये चन्द्रमाके समान थे, और पवित्र चारित्रवाले जिन मुनिके अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रोंकी रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगतको तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले हैं।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्घ्रयः। रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥३॥

अर्थ—जगद्वंद्य श्रीमान् नेमिनाथ जिनभगवानके चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रयमें रहनेवाली धूलि भी राजाओंके मस्तकपर जा बैठती है।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचित इष्टोपदेशः समाप्तः।

इस प्रकार श्रीपूज्यपादस्वामीके द्वारा बनाया हुआ 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ।

परिशिष्ट नं. १

श्रीपूज्यपादस्वामीकृत श्लोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्यानुवाद

इष्टोपदेश ।

—:०:—

कर्मा समूळ नाशुनि प्रगटविती जे स्वयं स्वभा[1]वातें । वंदन त्या हो माझे सम्यग्ज्ञान-स्वरूपिं आत्म्यातें ॥ १

स्वर्णजयें बनेंत हो त्या दगडांतून मानिती कनक । आत्मत्व मिळवि आत्मा होता द्रव्यादि चार तैं एक ॥ २

व्रत सुरपद दे म्हणुनी इष्टचि परि अव्रतें मिळें नरक । छायेंत मित्र जेवीं बघत उभे वाट आ[2]तपीं एक ॥ ३

ज्या चिंतवितां लाभे शिव, त्यातें स्वर्ग दूर किति राही । क्रोशार्द्धे खेद कसा, जो सहजचि भार कोस दों नेई ॥ ४

स्वर्गीय सुरसुख असतें निरोगि ते अक्ष[3]जन्य नाका[4]तें । बहुकाळ भोगतां येतें सुख त्यानांच योग्य लोकांत ॥ ५

फक्त वासना असती संसारीचे जगांत सुख-दुःख । दाविति आपत्काळीं रोगासम अक्षभोग भय देख ॥ ६

सं[5]वृतें मोहे ज्ञान न जाणी द्रव्यस्वभाव, मत्त बने । द्रव्यें मद्योत्पादक पदार्थभावा तसा न नर जाणें ॥ ७

घर, धन, शरीर, दारा शत्रू मित्रादि पुत्र वस्तूंना । अन्यस्वभावि सगळें परि मानी मूढ आपुले त्यांना ॥ ८

निशिं खग येउनि बसती, दिग्देशांतुन नगानगावरती । निज निजकार्यवशें ते देशोदेशीं उजाडतां जाती ॥ ९

केविं विराधक[6] मारिति त्यातें, करि त्या जनावरी कोप । त्र्यंगुळ[7]पदीं धरोनी पाडी, दण्डे पडे अपोआप ॥ १०

रागद्वेषें मथितां कर्मांचें बध निघेचि नवनीत[8] । जीवात्मा अज्ञानें त्या चिर संसार-सागरीं भ्रमत ॥ ११

विपदा भवपथवर्ती[9] पथिकेसम जाति सारली दूर । जोंवरि तोंवरि दुसरी विपदा, जीवासमोर ये प्रचुर ॥ १२

रक्षाया मिळवाया धनादि नश्वर कठीण जे असती । मानी सुखी तयें नर पिउनि घृता ज्वर हरावया बघती ॥ १३

इतरांसम अपणातें येति विपत्ति न विचार मूढांस । पशु जळती वनिं बघुनी तरुवर बसुनि न विचारि निजनाश ॥१४

आयुक्षय धनवृद्धिस कारण निर्गमन होय कालाचे । तत्प्रेमी धनिकातें जीवाहुन अधिक इष्ट पैशाचे ॥ १५

निर्धन करि धनसंचय, कर्मां श्रेयेंचि प्राप्त त्यागाया । स्नान करावें म्हणुनी पंकें[10] लिंपन करीच देहा या ॥ १६

आरंभिं तापदायक मिळतां अतृप्ति वाढते जाण । भोगून, हेयभोगी अधिकचि भोगील तो सुधी कवण? ॥ १७

ज्याच्या संगतिनें जगिं बनती वस्तू पवित्र अपवित्र । त्या इच्छिणें वृथा हो काया संतत अपाय जी करित ॥ १८

उपकारक जें जीवा अपकारक तेंच होय देहास । जें उपकारक होतें अपकारक तें ठरेचि जीवास ॥ १९

चिंतामणि दिव्य तसा खंडें[11] पेंडिचा तथापि निःसार । लाभति उभयध्यानें कोणा बुध मानतील बघ सारें[12] ॥ २०

---

१ मूळ स्वरूपवाला २ उन्हांत ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गांत ५ वेष्टित ६ बदला घेणारा ७ एक माती खांदणेचें यंत्र अर्थात् कुदाल फावडे या सारखे ८ लोणी ९ संसारांत पदोंपदी येणारी १० चिखलानें ११ तुकडा १२ श्रेष्ठ

स्वानुभवें तो प्रगटे प्राप्त देह सम जया असे माने[१३] । अत्यंत सुखी आत्मा लोकालोकावलोकि बघ जाण ॥ २१

एकाग्रमनें इंद्रिय-विषयातें त्यजुनि संयमें जगतीं । आत्मज्ञानी आत्मा आत्म्यामाजीं बसे तया चिती ॥ २२

अज्ञभक्ति अज्ञाना जन्मा ज्ञानभक्ति दे दान । जें ज्या जवळीं तो तें जगिं दे प्रख्यात हें असे वचन ॥ २३

अध्यात्म्याच्या योगें परिषहादिक न तेच अनुभवतां । आस्रव निरोधिकर्मा येइ निर्जरा सुशीघ्र कीं सुगतां[१४] ॥ २४

कर्ता चटईचा मी यांतचि संबंध भिन्न दोघांचा । ध्यान ध्येयचि आत्मा केवीं संबंध भिन्न वद त्यांचा ॥ २५

मोही कर्मा बांधी निर्मोही तो तयांतुनी सुटत । म्हणुनी सगळ्या यत्नें निर्मम भावास भावणें सतत ॥ २६

निर्मोहि एकटा मी विशुद्ध योगींद्रगोचरें[१५] ज्ञानी । बाह्यभाव संयोगज ते मजहुन बाह्य सर्व तूं जाणी ॥ २७

प्राण्या दुःखसमूहा संयोगें भोगणें पडे भुवनीं । म्हणुनी त्यजितो त्यातें सगळ्या मन वचन काय-कर्मांनीं ॥ २८

मातें न मरण केवीं भय ना, व्याधी कशी व्यथा होय । मी वृद्ध न बाल न मी तरुण न हे भेद पुद्गलीं पाय ॥ २९

मोहें संतत सगळें म्या पुद्गल भोग भोगुनी त्यजिलें । वद मज तत्त्वज्ञान्या त्या उच्छिष्टांत[१६] राग केवि गळे ? ॥ ३०

कर्मचि हितकर कर्मा आत्मा आत्म्यास हो हितावह तो । स्वस्वप्रभाव जाणुनि, स्वार्था वद कोण ना जगीं वहतो ॥ ३१

परोपकृति ती त्यजुनी सुज्ञासम हो स्वतास उपकारी । दृश्यमानशा अज्ञा करि उपकार न असे परा भारी ॥ ३२

अभ्यासें उपदेशें गुरुच्या तो अनुभवून आत्म्यातें । निजपर भेदा जाणुनि, भोगी चिरकाल मोक्ष सौख्यातें ॥ ३३

त्या ती सद् अभिलाषा इष्ट वस्तुचें तया असें ज्ञान । आत्माच गुरू आत्म्या प्रेरक निजहित असें स्वतां जाण ॥ ३४

अज्ञ न असतो ज्ञातां विज्ञाता मूर्ख तो कधीं नसतो । दुसरें निमित्त केवळ गतितें धर्मास्तिकाय जें होतो ॥ ३५

विक्षेप न मनिं वरुनी तत्वीं संस्थित बनून एकांतीं । अभियोगें त्या स्वात्मिक तत्त्वा अभ्यासणें मुने जगतीं ॥ ३६

हें आत्मतत्त्व उत्तम स्वानुभवातें जसें जसें येतें । विषय सुलभ ते असुनी कदां न जीवा तसें तसें रुचते ॥ ३७

इंद्रिय-विषय न जेवीं सुलभ असोनी न रुचति पुरुषातें । तेवीं उत्तम तत्त्वचि, रुचतें निज अनुभवास येतां तें ॥ ३८

आत्मलाभ तो इच्छी इंद्रजालसम जगास निःशेष । बघुनी, विषयांत दुज्या रमतां, मनिं खेद होइ बहु त्यास ॥ ३९

इच्छुनि अतिप्रयत्नें निर्जन एकांतवासिं तो रमतो । निजकार्यवशें किंचित् बोलुन विसरून त्यास तो जातो ॥ ४०

बोलत असुनि न बोले चालत असतां कदां न तो चाले । पाहत असुनि न पाही आत्मिक तत्त्वीं स्थिरत्व मेळविलें ॥ ४१

कोण कुणाचे कैसें कवणें कोठें असेच हा राम । त्यागुनि विकल्प देहा, जाणि न निजयोगि योग विश्राम ॥ ४२

जो जेथें वसति करी, तेथें तो जीव करितसे प्रीति । रममाण जिथें होतो तेथुन कोठें न जात तो जगतीं ॥ ४३

सोडून कुठे न जाती राहि, विशेषा तदीय अनभिज्ञ । तद्विशेष अज्ञत्वें हो बद्ध न मुक्त होय परि सुज्ञ ॥ ४४

पर तें पर दुःखद हो आत्म्या आत्म्येंच सौख्य मानवतें । तद् प्राप्तिस्तव उद्यम करिती म्हणुनी महान मानव ते ॥ ४५

करि पुद्गल वस्तूंचें अभिनंदन जो जगीं अविद्वान । सहवास जंतुचा त्या सोडी चारी गतींत ते कधिं न ॥ ४६

व्यवहार–बाह्य होउन आत्मध्यानांत होइ लव-लीन । योगाच्या योगबळें त्या परमानंद एक घे जनन ॥ ४७

अधिकचि जाळितसे हा, अनंत कर्मेंधनास आनंद । बहिरंग दुःख योगी मुळि अनुभवतां न पावतो खेद ॥ ४८

दूर अविद्येहुन ती ज्ञानमयी श्रेष्ठ परमशी ज्योति । प्रश्न करी अनुभव घे विचार त्याचा करींच मोक्षार्थी ॥ ४९

हा संग्रह तत्वांचा बघ पुद्गल जीव दोन ते भिन्न । जे अन्य जाइ कथिलें त्याचा विस्तार तो ठरे जाण ॥ ५०

इष्टोपदेश बुध वाचुन चिंतवून । मानापमानिं समता स्वमतें वरून ॥
मुक्ताग्रेही[१७] जनिं वनीं विधिनें[१८] बैसून । मुक्तिश्रिया निरुपमा करि प्राप्त जाण ॥ ५१

---

१३ प्रमाण १४ सद्बुद्धिशाली, केवलज्ञानी १५ गोचर–जाणलें जातें-तें ज्ञानांत जातें तें १६ ओकून टाकलेल्या १७ मुक्तीच्या आग्रहांत. १८ विधिपूर्वक.

परिशिष्ट नं० २

श्रीमत्पूज्यपाद स्वामिकृत श्लोकोंना

श्रीरावजीभाई देसाई श्रीमद् राजचंद्र आश्रम अगासकृत गुजराती पद्यानुवाद ।

इष्टोपदेश ।

मंगलाचरण

अनुष्टुप छंद

अपूर्व तत्त्वदृष्टिना, दाता सद्गुरु राजने; नमी इष्टोपदेशे आ, रमुं, साधुं स्वकाजने ॥
पूज्यपाद सूरिवर्ये, रच्यो इष्टोपदेश आ; रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता ॥

अवतरण

ग्रन्थारंभ

सर्व कर्मो हणी पोते, पाम्या आत्मस्वभावने; केवलज्ञानरूपी ते, नमुं सत् परमात्मने ॥ १ ॥
स्वर्णपाषाण सुहेतु पामी सोनुं बनी रहे; सुद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा शुद्धात्मता लहे ॥ २ ॥
व्रतो आपे सुखो स्वर्गे, अव्रतो नरके दुःखो; छांये तापे उभा बेनो, भेद मोटो अहो लखो ! ॥ ३ ॥
आत्मभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्ग विसात ना; कोश बे जे लई जाये, कोशार्धे थाय म्हात ना ॥ ४ ॥
स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रिय जन्य ए, निरामयी चिरस्थायी देवोने योग्य भोग्य ते ॥ ५ ॥
जीवोनी वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दुःखो; भोग ते रोगवत् पीडा, आपे आपत्तिमां जुओ ॥ ६ ॥
मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावने; मेणो चढ्ये खुवे प्राज्ञो, शुद्धि, बुद्धि–प्रभावने ॥ ७ ॥
देह गेहादि स्त्री पुत्रो, शत्रु मित्रो धनादि तो; स्वभावे सर्वथा न्यारां, मूढ माने स्वकीय जो ॥ ८ ॥
भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरू वसे; प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ॥ ९ ॥
विराधे अन्यने तुं तो, अन्य ते तुजने हणे; करे छे क्रोध त्यां शाने ? वावे तेवुं जगे लणे ॥ १० ॥
अज्ञाने राग ने द्वेष, नेतरां कष्ट नोतरे; खेंचातां, दंडवत् जीवो, भवाब्धिमां भम्या करे ॥ ११ ॥
विपत्ति एक ज्यां जाये, आवे तेवी बीजी घणी; संसारे प्राणीने एवी, घटमाळ विपत्तिनी ॥ १२ ॥
कमातां रक्षतां कष्ट धनादि नाशवंतने; सुखी तेथी गणे तो, शुं, सुख घीथी ज्वरार्तने ? ॥ १३ ॥
विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो; वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मूर्ख वृक्षे रह्यो छतो ॥ १४ ॥
आयु–भोगे वधे लक्ष्मी, धनिको तोय ते चहो, धनार्थे आयु गाळी दे, प्राणथी इष्ट श्री तहीं ॥ १५ ॥
दान के पुण्यना नामे, निर्धनो धन संग्रहे; तो ते 'स्नाने थशुं शुद्ध' चही पंके वृथा पडे ॥ १६ ॥
पमाये कष्टथी भोगो, पाम्ये तृप्ति न आपता; त्यागतां दुःख दे अंते, तेमां सुज्ञो शुं राचता ? ॥ १७ ॥
जेना संगे शुचि एवा, पदार्थो अशुचि बने; ते दुःखमूर्ति देहार्थे, भोगनी चाह शुं तने ? ॥ १८ ॥
आत्माने श्रेयकारी जे, देहने अपकारी ते; कितु देहोपकारी जे, आत्माने अपकारी ते ॥ १९ ॥
दिव्य चिंतामणि एक, काचनो कटको बीजो; मळे जो ध्यानथी बन्ने, विवेकी इच्छशे कयो ? ॥ २० ॥
स्पष्ट स्वानुभवे व्यक्त, अक्षयी देहव्यापक; आनंदधाम आ आत्मा, लोकालोक-प्रकाशक ॥ २१ ॥
चित्त–एकाग्रता साधी, रोकी इन्द्रिय-ग्रामने; आत्मार्थी संयमी ध्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने ॥२२॥
ज्ञानीना आश्रये ज्ञान, अज्ञथी अज्ञता मळे; 'होय जेनी कने जे ते, आपे' लोकोक्ति ए फळे ॥ २३ ॥

परीषहो जणाये ना, मग्न अध्यात्ममां थतां, आस्रवो रोकती थाये कर्मनी शीघ्र निर्जरा ॥ २४ ॥
कर्ता हुं सादडीनो त्यां छे संबंध जुदो कह्यो; ध्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कयो रह्यो ?॥२५॥
ममताथी जीवने बंध, मुक्ति निर्ममता थकी, माटे सर्व प्रयत्ने ए, ध्यावो निर्ममता नकी ॥ २६ ॥
निर्मम एक हुं शुद्ध, ज्ञानी योगीन्द्रगोचर; सर्वे संयोगी भावो ते, स्वात्माथी सर्वथा पर ॥ २७ ॥
दुःखना डुंगरो वेदे, जीवो संयोग कारणे; मन वाणी तनु कर्मे तजुं संयोग सर्वने ॥ २८ ॥
मने ना मृत्यु, भीति शी ? मने ना रोग, शी व्यथा ? ना हुं तरुण, ना वृद्ध, बाळ ना पुद्गले बधां॥२९॥
मोहथी भोगवी छोड्यां, पुद्गलो सौ फरी फरी, हवे ए एंठमां मारे, ज्ञानीने शी स्पृहा वळी ? ॥ ३० ॥
कर्मो कर्महित ताके जीवो इच्छे स्वश्रेयने; स्व स्व प्रभावयोगे सौ, साधे कोण न स्वार्थने ? ॥ ३१ ॥
देहादि अन्यना अज्ञ उपकारे शी वर्तना ! लोकवत् स्वार्थ साधी ले, त्याज्य अन्योपकार हा ! ॥३२॥
गुरुबोधे, स्वअभ्यासे, स्वानुभूतिथी जाणता; आत्मा ने अन्यनो भेद, ते मुक्ति-सुख मानता ॥३३॥
स्वयं सत्नी करे इच्छा, स्वयं ज्ञापक श्रेयनो; स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनो ॥ ३४ ॥
पामे ना ज्ञानता अज्ञ, ज्ञानी ना अज्ञता ग्रहे; निमित्तमात्र बीजा तो, गतिमां धर्मवत्, बने ॥ ३५ ॥
शमावी चित्तविक्षेपो, एकांते लीन आत्ममां; अभ्यासे उद्यमे योगी, सहजातमतत्त्वता ॥ ३६ ॥
अनुभूति निजात्मानी, जेम जेम प्रकाशती; तेम तेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती ॥ ३७ ॥
जेम जेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती; तेम तेम अनुभूति परात्मानी थती छती ॥ ३८ ॥
समस्त विश्वने भाळे, इन्द्रजाळ समुं वृथा; आत्म-लाभ सदा इच्छे, पस्ताये परमां जतां ॥ ३९ ॥
इच्छे एकांतमां वास, चाहे निर्जनता सदा; वदे कार्यवशे किंचित्, तेय शीघ्र भूली जता ॥ ४० ॥
बोले तोये न बोले ते, चाले तो ये न चालता, स्थिरता आत्मतत्त्वे जो, देखे तो ये न देखता ॥४१॥
विचारे ना शुं आ केवुं कोनुं क्यांथी वळी कहीं ? योगी तो योगमां लीन, देहभानेय ज्यां नहीं ॥४२॥
जेमां जे वसी रहे छे, त्यां ते रति करे अति; जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति ॥ ४३ ॥
अन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभवे, अनन्य उपयोगी ते, अबंध मुक्ति भोगवे ॥ ४४ ॥
अन्य ते अन्य, त्यां दुःख, आत्मा आत्माज ते सुखी; आत्मार्थेज महात्मानी, साधना सर्वतोमुखी॥४५
अज्ञ जे पुद्गलद्रव्ये राचे ते पुद्गलो पछी; तेनो पीछो तजे नांहीं कदी चतुर्गतिमहीं ॥ ४६ ॥
ध्यानमां मग्नता ज्यां त्यां, बाह्य व्यापारशून्यता; ध्यानथी योगी आस्वादे, सच्चिदानंद व्यक्तता ॥४७॥
कर्म-राशि दहे नित्य, ते आनंद हुताशन; खेद ना पामता योगी, बाह्य दुःखे अचेतन ॥ ४८ ॥
अविद्या भेदती ज्योति, परंज्ञानमयी महा; मुमुक्षु मात्र ए पूछे, इच्छे, अनुभवे सदा ॥ ४९ ॥
आत्मा ने पुद्गलो जुदां, मात्र आ सार तत्त्वनो; अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो॥५०॥

वसन्ततिलका

इष्टोपदेश मतिमान भणी यथार्थ, मानापमान समताथी सहे कृतार्थ;
निराग्रही वन विषे जनमां वसे वा, पामे अनुप शिवसंपद भव्य तेवा ॥ ५१ ॥
सद्‌बोध सद्गुरुतणो जीव जे उपासे, तेने निजातम थकी पुद्गल भिन्न भासे;
स्वानुभवे सहज आत्मस्वरूप राजे, ते सौख्य-धाम परमात्मपदे विराजे ॥

———————

परिशिष्ट नं. ३

ॐ नमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश ।

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. **Champatrai Jain,** Bar-at-Law Vidyāvāridhi.

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः । तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort—to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:—Omniscience is the attribute of the Pure and Perfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to Divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at least in the earlier stages of the path.

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note:—The impure ego is like gold in the state of ore; both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when rid of the adhering impurities. Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the removal of the nongold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold *plus* so much dross added to it. In the same way the mancipated soul is pure Spirit *plus* so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of *sva-dravya* (own substance'), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term *sva-dravya* (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely *sva-kāla* (own-time, signifying the external states that are changing in time), *sva-kshetra* (own space, or self-sized i. e., as existing in its own expanse). and *sva-bhava* (own-feelings or own nature, i. e., internal

states). These may be termed the '*sva*' quartette technically. The soul that is rid of the not-self exists in its own nature with respect to the *sva* quartette, while the transmigrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:—

Pure Spirit.	Conditions, of existence	Impure ego.
Exists in His own substance ...	*Dravya* ...	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self.
Is Divine all over	*Kshetra* ...	Is involved in impurities all over.
Abides in a form that is His own for ever more	*Kāla* ...	Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death.
Always enjoys the bliss and blessedness, appertaining to pure Spirit.	*Bhāva* ...	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless existence, generally.

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकम् । छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper; the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note:—In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization. Naturally enough the question now arises: why should one take the trouble of observing vows and otherwise subjecting one self to a life of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul ? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without vows? The reply is given here in this verse. Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into hells which is the most undesirable condition of existence. On the other hand, the observance of vows leads to very happy and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the *acharya* says that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one whose life is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove.

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of hardships at a certain stage of advancement; for without them the *karmic* filth cannot be separated from the soul. But the great thing to note about the observance of vows and the suffering of hardships is this that they appear

to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance. When one is imbued with the right Faith one realises at once the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial. And the task does not then appear to be burden-some, but is cheerfully accepted as the surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी । यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥४॥

The soul that is capable of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him ? Can the man who is able to carry a load to a distance of two *koses* feel tired when carrying it only half a *kos* ?

Note:—This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both *moksha* as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles without being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self contemplation thus, is much superior to the mere observance of yours, though the latter are able to lead to heavens for the time being.

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम् । नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव ॥ ५ ॥

The happiness that is enjoyed by the residents of heavens appertains to the senses, is free from disturbance [literally, disease], enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens !

Note:—The pleasures of a heavenly life are but sense produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world.

वासनामात्रमेवैतत्सुखं, दुःखं च देहिनाम् । तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

The experiences of pleasures and pains of the *samsari jivas* (unemancipated souls) are purely imaginary; for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble !

Note:—If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal. But we see that what is the cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble arises or calamity overtakes the enjoyer. Hence the *acharya* points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding that the infatuated humanity regard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happiness to be described later.

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि । मत्तः पुमान्पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intoxicating food is unable to know them properly !

Note:—Infatuations—likes and dislikes, *etc.*—deprive us of that purer form of mental serenity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs.

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः । सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

All the objects, the body, the house, wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own !

Note:—The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning his loss. Some times the relations depart plunging us in mourning. Hence, the *acharya* points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसंति नगे नगे । स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening; but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions !

Note:—The world is like a tree where the birds gather together to pass the night; in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, as if for the night; at the break of day we part company from them, each one going his own way ! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties ?

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति । त्र्यङ्गुलं पातयन्पद्भ्यां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him ? He who pulls down the *trangura* with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality ! This is but just ! It therefore, does not become one to get angry !

Note:—The *trāngura* is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The *acharya* likens the action of an evil-doer to the result of pulling down the *trangura*. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the *trangura* has rebounded on oneself and is responsible for one's suffering. Surely, this

is but justice, pure and simple. Where is, then, room for anger in this? The point is tha in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doer, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow himself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, should so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own serenity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; it tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the liability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness.

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा। अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

Tied to the long rope intwined with [the strands of] attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of *samsāra* (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note:—Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Selfknowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness though it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of *karmic* forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते। यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

The *samsāra* (transmigratory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul!

Note:—The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions. No one thinks of associating happiness with the conditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons; they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are seized and devoured mercilessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may be regarded as favourites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the least undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyre to look forward to. Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its condi-

tions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent their whole time in crying and lamentations. Their suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings and millionaires and potentates are no exceptions; they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to. The *acharya*, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore, only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is eternal peace and joy and life unending.

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना। स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health!

Note:—*Ghee* (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his eating *ghee* is a big fool. Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The *acharya*, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते। दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others; he acts like the man who, seated on the top of a tree in the midst of a burning forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Note:—The *acharya* here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to turn to the true side of life, taking no warning by the fate of others.

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्। वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥ १५ ॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as well as of the increase of wealth: the amassers of wealth [thus] love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः। स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥ १६ ॥

The poor man who accumulates wealth so as to be able to acquire merit and the destruction of evil *karmas* by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

Note:—The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-thinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul : what purpose can, then, be served by charity and good works thereafter. The man who enters a drain full of filth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter !

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्। अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

What ! will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble in their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very painful at the time of parting ? Should a wise man do so, he would not abandon himself to the lustful feeling.

Note:—According to the degree of foresight developed by them, men fall into three classes, namely, the short-sighted, the far-sighted and the farthest-sighted. The first class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly wise. They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana. They are the farthest-sighted, for this reason ; we may also call them *Dharma*-sighted, for *Dharma* signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a Knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in so far as he is unable to resist the forces of *karmic* infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling vortex of pleasures and lusts.

भवन्ति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि। स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity !

Note:—It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impure for any other purpose !

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं। यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकं ॥ १९ ॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul !

Note:—The association of the soul and the body being the cause of the pain and misery appertaining to embodied existence, *nirvana* really only signifies the destruction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully exalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is necessarily the source of continued affliction to the soul and *vice versa.*

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य, इतः पिण्याकखण्डकम्। ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्काद्रियंताम् विवेकिनः ॥ २० ॥

When the divine wish-fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose?

Note:—The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great boon—the status and the joy of Divinity—to a passing pleasurable form of sense-tickling that is like a worthless piece of *khali* (a cake of sesamum seeds from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitter the bondage of *karmas.*

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः। अत्यंतसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

This soul can be adequately known by self-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka!

Note:—In this *sloka* the acharya has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking, of the size of its physical body and is indestructible, hence immortal. Knowledge and bliss appertain to it by nature, being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed from the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (*Loka* = the universe of life and matter + *aloka* = the infinity of Pure space lying beyond the Loka).

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः। आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should contemplate the Self, seated in his own Self, through the Self!

Note:—The contemplation of the divinity of the Self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is seated inwards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the mancipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अज्ञानोपा[illegible], ज्ञानम् ज्ञानिसमाश्रयः। ददाति यत्तु [illegible] सुप्रसिद्धमिदम् वचः ॥ २३ ॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnana (self-knowledge) bestows Knowledge: for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed!

Note:—False beliefs and wrong convictions can never lead to true knowledge; for you cannot get what is not contained in the nature of a thing, e. g., blood out of stones. But he who seeks knowledge is sure to be rewarded by enlightenment; for the law is that he who seeks shall find, he who asks shall get what he asks for and he who knocks shall be admitted into light, provided only the seeking, the asking and the knocking is sincere and persistent and in harmony with the nature of things.

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी। जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

By bearing with equanimity, by the power of the soulforce, the trials and hardships consequent on world-renunciation, is accomplished speedily the destruction of *karmas* and the stoppage of further inflow thereof !

Note:—There are two aspects of the *karmic* force the *dravya* and the *bhava karmas.* Dravya karmas simply mean matter which flows into the soul with every thought and word and deed. *Bhava karmas* are inner mental states, that is to say feelings, cravings and the like which are the causes that lead to the inflow of matter towards the soul. The bondage of the soul consists in the state of embodiment which signifies association with matter. The ascetic aspires to separate his soul completely from the material impurities that defile and hold it in bondage. The inflow of matter is termed *asrava,* and takes place only because of a certain kind of magnetic attraction which the soul developes under the influence of desire. It ceases when the soul becomes desireless completely. The matter existing in combination with the soul also then begins to dissolve and soon becomes separated from it. This is termed *nirjara,* in the course of which many hardships have to be faced by the aspirant. If these are cheerfully borne, the goal of freedom and bliss is reached speedily, and the soul becomes a pure and perfected God. The destruction of desire, therefore, is the key to the situation, and the *acharya* points out that those who preserve equanimity of mind in the midst of trials and temptations speedily attain to the Supreme Status by the stoppage of the fresh inflow and the destruction of the existing *karmas.*

कटस्य कर्त्ताहमिति सबंधः, स्याद् द्वयोर्द्वयोः। ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबंधः कीदृशस्तदा ॥२५॥

In a statement such as 'I am the maker of the mat', two objects are implied; but where the soul itself is the instrument as well as the object of contemplation, how can there be duality in that state?

Note:—This *sloka* is intended to further elucidate the nature of self-contemplation which is non-dual. There are in that state no two separate objects like a mat and the man who made it; but the object of contemplation is the same as he who contemplates. The soul in reality only contemplates its own inherent glory, so as to realize its hidden divinity. Hence *acharya* points out that there is no room for duality in the process of pure self-contemplation.

बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्। तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥२६॥

The soul involved in the delusion of egoity is enmeshed in the bondage of *karmas*; he who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of *karma*: this is the order of things; such being the law, one should try in all possible ways to attain to pure self-contemplation, devoid of the delusion of egoity.

Note:—We have already seen that desire is the root of bondage. Here the *acharya* takes us a step further towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality. and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the *acharya* warns us against.

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way !

Note:—The soul is here described from what is known as the *nishchaya naya*, that is to say in respect of its pure natural attributes; in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one; being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion; rid of all forms of defilement and corruption, it is pure; having omniscience for its attribute, it is the true knower; and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the like : therefore, I [shall] renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech !

Note:—He who does not control the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his boudage and the transmigratory life which is simply full of paia and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा । नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

I am not subject to death; then, what should I fear death for ? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain ? I am not a child; I am not an old man; nor am I a youth : all these appertain to the flesh (matter) !

Note:—Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death ? aud how can one be really affected by disease ? The saint, knowing the pure immortal aud incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spritual nature.

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः । उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for them now that I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings.

Note:—In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer whose vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like a longing to eat the leavings and refuse.

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः । स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वांछति ॥३१॥

Karma works in its own cause; the soul works for its own good: who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note:—Since *karma* produces *karma*, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the *karmic* power, when it is able to do so The interests of the two thus clash with each other. The *acharya* here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy; forthere is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or *karma*, that acts by stealth and strikes mercilessly and hard.

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self!

Note:—It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama, in the belief that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are – all the ties and joys and relationships of the world, taken together—only so many enemies in disguise! The *acharya*, therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the not-Self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly!

Note:—Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the *karmas* are destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note:—The outside Teachers and guides are only helpful where the soul itself is ripe for advancement on the path; their word is of no avail where the hearer is not open to

receive it. For this reason the real teacher and guide is the soul itself; and so far as exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor !

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

Those not yet qualified for the acquisition of Truth cannot become the knowers of Truth; the knower of Truth cannat become devoid of it; external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things) !

Note:—The *acharya* here elucidates the nature of the teaching from an outside source. It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one. Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom; he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding !

अभवच्चित्तविक्षेप, एकांते तत्त्वसंस्थितिः । अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self,—such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place.

Note:—The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is exceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance. Hence, it is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place.

यथा यथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

As greater and greater progress is made in the realization of the glorious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease.

Note:—This *sloka* describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature; he who begins to enjoy the divine thrill ef spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases.

यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment !

Note:—The enjoyment of the natural inherent joy of life increases side by side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures; and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to Life.

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् । स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion; and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it !

Note:—Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs to attain to it must regard the panorama of the world as transient, instable and fleeting, in other words, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The *acharya* says that the true characteristic of a wise man is that whenever he is entangled in any of the worldly pleasures, neglecting his proper *dharma* (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends.

इच्छत्येकांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः । निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥ ४० ॥

The seeker after the Self longs for solitude, preferring dissociation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said !

Note:—Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation.

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति । स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing !

Note:—When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say, affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् । स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul ? what is its nature ? who is its master ? from whom is it derived ? where does it reside ? and the like.

Note:—In the culminating *samadhi* (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thrilling pulsation of the joyousness of self-feeling. Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In that state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter.

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिं । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere !

Note:—This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place. Similarly, the ascetic who loves the state of the *samadhi* of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and ecstasy for him.

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते । अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्ध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not-self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by *karmas*, but becomes released from them !

Note:—The law governing *karma* and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion; on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inborn joy of his own real self. Hence he is not afflicted with fresh *karmic* bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing *karmic* bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to disperse and depart when a contrary state is established therein. The *acharya*, therefore, says that the *samadhi* of self-feeling has a two-fold merit : it is, firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं । अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

The not-self are surely never the Self; only sorrow accrues to the soul from them : the Self ever remains the Self; it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self !

Note:—The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the *acharya*, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul ? The fact is, as the *Jainacharyas* have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by nature and comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassed bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyousness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not-self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world ? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited !

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं, योऽभिनंदति तस्य तत् । न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुंचति॥ ४६ ॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four *gatis* !

Note:—*Gatis* signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial, the hellish, the human and the sub-human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are

chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of *karma* that drag it from one *gati* to another or in the numerous classes and sub-classes of the same type. The *acharya*, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever-revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter—and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter—should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely ! Knowing this, the seeker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the worldly intercourse, a supreme kind of happiness is produced in the being of such a yogi !

Note:—Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation.

आनंदो निर्दहत्युद्धं, कर्मेंधनमनारतं । न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

Self produced happiness is constantly burning up the *karmic* fuel in large quantities, while the *yogi*, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least !

Note:—The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by bodily discomforts and pains to which he does not even attend consciously.

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टव्यं, तदेष्टव्यं, तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,—the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience !

Note:—The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance. Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in *feeling* it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day; for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The reason why novitiates in *yoga* find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed channels of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steal away their determination.

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः । यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ ५० ॥

The Self is different from matter, matter is different from the Self : this is the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this !

Note:—Here the *acharya* sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the soul. This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of

the ignorant who entertain many doubts on the subject. Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature, its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself and devotes all its time to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of *karma*, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization, as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of *devas* (celestials) and men.

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥ ५१ ॥

The wise *bhavya** who has well understood the teaching of the " Ishtopadesha ", and who maintains the serenity of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in a jungle !

* The soul that is endowed with realizable potentiality for the attainment of salvation is termed *bhavya*, while the *abhavya* (*a*, not + *bhavya*) is the soul that is potentially divine like the *bhavya*, but with a portentiality that is not realizable into actuality.

NOTE:—Faith in the glorious nature of the Self and mental equanimity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigration). The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or later, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the *karmas* of his previous like. But even the worst of *karmas* begin to lose their power under the loosening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire of Right Knowledge-Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the " Ishtopadesha " which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand !

FOREWORD

Shri Pujyapada Swami the author of the "*Ishtopadesha*" (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the *Digambara* sect, who flourished in the fourth century A. D. He composed several important works on the Jaina Philosophy and Religion of which the "*Sarvartha Siddhi*" (an elaborate commentary on the *Tattvārtha Sutra*, which may be termed the Jaina Bible), "*Jainendra Vyākarana*" the "*Samādhi Shataka*" and the "*Ishtopadesa*" are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri *Dharma-Divakar, Dharma Bhushana Brahmachari* Sital Prasadji in the year 1923. I have now translated it into English, at the suggestion of the respected *brahmachariji* himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the *brahmachariji* to whom I am indebted for the favour.

The "*Ishtopadesha*" is a charming composition in *adhyātma-rasa*, that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-realization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his *karmas* on the *adhyātmic* altar of the Glorious Divinity of the Inner Self.

HARDOI :
17th May, 1925.

C. R. JAIN

CONTENTS.

INTRODUCTION

ISHTOPDESHA (इष्टोपदेश) (Happy Sermons) is a didactic poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Pujyapada, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th. century A. D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Deccan. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, he was renowned as Pujyapada i. e. one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Karnataka, he was known as one who was untouched by earth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saint of high repute, he was a great scholar and thinker of his times. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he has held a revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammar, prosody and jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India.

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (सर्वार्थसिद्धि), a commentary on Tatvarth Sutra (तत्त्वार्थसूत्र),—a compendium of Jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A. D. in aphorisms—is a work of rare value, being a key to this vast treasure of knowledge. Jainendra Vyākaraṇa (जैनेन्द्रव्याकरण) is an equally important work on grammar written by him.

Samadhi Shatak—(समाधिशतक) ("Equanimity") in 100 stanzas is an-other didactic poem composed by him. It is a work of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rare spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to a seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West—a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopdesha—"Happy Sermons", as the first offering for being presented to the western peoples in a western garb.

In order that readers who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has been done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem, whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Headings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint wishes to convey through these sermons, is to be judged by the fancy, bestowed by western readers on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of strengthening the cultural relations between the East and the West.

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Panipat.
Mahavir Jayanti 1954

Jai Bhagwan Jain
Advocate.

---

*. B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society—1800, p. 245 ff.

परिशिष्ट नं. ४

HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B. A. LL B.

Obeisance.

1. I bow to the all knowing Lord, By total extinction of all flaws,
Who shone forth into purest glow, And paved for all, salvation path. 1

God and Self.

2. God is self and self is God, Both are one like ore and gold,
The difference lies in their modes, The pure is one, the other impure. 2
As ore transforms into gold, When released from foreign things,
So self does evolve into God, When released from matter's strings. 3
Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends,
And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhythm. 4
To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart,
Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form. 5
With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,
When all is compassed by the self, It one and one becomes with God. 6

Path of Peace and Piety.

3. It becomes a traveller in the summer, When treading towards the sweet home,
To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves. 7
Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth,
It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct. 8
The path of peace is double good, It comforts here and onwards,
Through lovely vistas of heavens, Leads to the goal of eternal bliss. 9
While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,
Are ever a menace to this life, And onwards lead to hellish broil. 10
4. It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,
Who's fit, strong and ever used, To carry weight to many miles. 11
So far a path of peace and good, Which leads to goal of eternal bliss,
It is not hard to reach a heaven, A half way house on the trip. 12
5. Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,
Is not the abiding goal of life, But halting place in march of life. 13

Philosophy of Pain and Pleasure.

6. Pleasures, pains of earthly beings, Are mere self's imagery things,
They exist no-where but in mind, Engendered by fantastic whims. 14
No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,
A food for one is not for all, It is a well-known fact of life. 15
So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay,
Become how hideous, out of tune, When one is filled with grief and gloom. 16

Ignorance, the Cause of all Ills.

7. Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs,
Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours. 17

8. It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof,
Like spouse, children, body, wealth, Are all viewed as parts of self. 18

9. If seen with clear crystal vision, Free from whims of likes, dislikes,
No more related to us they are, Than forest trees are to birds. 19
They flying come from distant lands, Settle on trees for the night,
And take to wings for quarters new, When morning comes with feast of light. 20

10. As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spade,
Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same. 21
This law of action and reaction, Though patent in the realm of life,
But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin. 22

11. For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends,
Self is dipped from eternal time, In deep waters of births and deaths. 23

Wordly Life Is a Chain of Pains.

12. The worldly life is set on frame, Ever on move like waterwheel,
Full of turns of ills and pains, With little rest from cares and needs. 24

Wealth is no remedy for worldly ills.

13. Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe,
One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee. 25

14. A rich man like the common folk, Infested though with diverse woes,
Yet being filled with self conceit, He thinks himself immortal being. 26
Like fools taking perch on tree, In the midst of forest fire,
He does not look to roaring flames, Engulfing him like other beings. 27

15. With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end,
But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end. 28

16. A poor man wanting heaps of wealth, To give them off in public alms,
Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath. 29

17. The lustful pleasures of the world, No sure hand-maids of the wealth,
They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind. 30

18. Nor body is the end of life, It is too frail and short in time,
One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth. 31
Made of bones and loathsome flesh, Offensive filth and nasty germs,
It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy hoard. 32

19. What doth add to vigour of flesh, Doth verily sap the vigour of soul,
And what doth add to wealth of soul, Doth verily end the needs of flesh. 33
As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self,
Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self. 34

Concentrated Thought is the only remedy

20. Every thing can be had in life, By force of concentrated thought,
Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of stone. 35
It is to be settled by the wise, Which of the two is worth attempt,
The devine self of eternal bliss, Or mortal life of filth and ills. 36

Self is the only Thing Worth Realisation.

21. The self enframed by body though, Is embodiment of the perfect light,
Shining all, beyond and near, Visible, pure, and crystal, clear. 37
Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space,
Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living. 38
The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals,
The aim, the light and the way, It is the thing to get realised. 39

Path of Self Realisation.

22. To know, realise the boundless soul, Let outward senses be controlled,
Give urges their an inner trend, To seek with-in the joyful ends. 40
Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced poise,
Then drawing·your self with-in the self, Meditate on self in steady pose. 41
23. The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter,
Whoever follows their foot prints, Is sure to fall in painful pits. 42
But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work,
One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace and joy. 43
Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field,
So ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished home. 44

Superiority of a Devotee.

24. A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh,
He lets not in the vicious trends, And uproots what are seated deep: 45
25. When subject object are distinct, Separation surely severs their link,
It does not touch devotee's lot, He is both the seeker and the sought. 46
While one who clings to earthly things, And claims the same as his own,
He mourns and groans with sorrow's pangs, Deserted when he is left alone. 47

The Unreality of Worldly Life

26. Self is self and matter is matter, The twain can never meet in one,
Their union rests on ego's whims, Baseless, flinsy and unreal. 48
When one is free from ego's whims, Free he is from matter too,
So one should make his best efforts, To free himself from ego's rule. 49

The Path of Victory.

27. In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping,
To conquer the evil of egotism, Think, meditate and ever feel. 50

" Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and free,
Untinged by passions and emotions, Peace and purity reign in me. " 51
" A seer, a master seer of things, I stand above, aloof from seen,
Unbound by egotisitic whims, I compass all of them in peace." 52
" All the things of the outer world, Inherited and acquired by us,
Are wholly separate and others, There is no love lost between us. " 53

The Unholy Union.

28. Union of self with physical things, Is perennial source of pains and ills,
With all thy force of thought, word, deed, Give up thy greed for outer things. 54

The Divinity of Self.

29. To arise above the earthly woes, Should never lose the sight of soul,
O ! feel and feel the warm delight, In divine dignity of the soul. 55
I am not the death, nor disease, Neither young, adult, nor old,
All these things belong to flesh, Nothing is there to fear and mourn. 56
I am, I was; shall ever be, This is the basic truth of life,
In all the quests of charmful bliss, am the architect of plights. 57
" Powerful with my aspirations, Resourceful with imaginations,
Blissful with glorious hopes, I tread my way through thick and thin. " 58

Futility of Worldly Quest.

30. " Enchanted by the charms of dust, Again and again I turned to it,
Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its tints. " 59
" Moved up and down in varied ways, In various climes, in various place,
Lived in heaven, hellish zones, But none gave the cherished goal. " 60
" Ages have past and eras rolled, Still no rest from outer quests,
Now let me turn to inner self, For tried old things, no use of quest. 61

The Struggle of Life

31. The great struggle of worldly life, Against pain, wants and ignorance,
Is struggle against the physical bonds, Forged by foolish whims of self. 62
Self and matter both are real, But differ in roles of cosmic plan,
The one is subject, object other, To cast in forms the inner dreams. 63
The self is whole of space and time, Of charms, of beauty, joy and light,
While matter is dark, dull, decaying, Ever on move for new combines. 64
Though highest charming truth is self, But self through his ignorance,
Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his self. 65
Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the master's role,
But self being the motive force, It ever asserts the will of soul. 66
As both belong to distinct realms, They ever differ in their trends,
The self is astir for the whole, The matter tends to dingy cells. 67
Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the bonds,
Life from death, the light from dark, Purge from vice, peace from woes... 68

Appeal to Self.

32. O Self ! awake, how long will thou, Serve dictates of alien rule,
And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. 69
Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare,
Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self. 70

Master's role in Spiritual Culture.

33. The eternal bliss reveals on him, Who discerns self from motley heap,
To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet. 71
Master is great beacon light, Showing the various paths of life,
But helping only those ship-wrecked, Who themselves feel inclined to right. 72

Self is his Own Guide.

34. Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions,
And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions. 73
35. As ether in the realm of matter, Helps only those prone to move,
So all the teachers and scriptures, Only help right-minded souls. 74
They neither bestow any wisdom, On perverse, niggards, and fools,
Nor they extract any knowledge, From the high enlightened souls. 75
Self alone is foe and friend, He has all the keys of betterment,
So one should look to one's own self, For all his failures and success. 76

The Essential Requisites of a devotee

36, Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life,
Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine. 77

Life Features of a Yogi.

37. The more he reveals the truth of life, The higher he soars from lustful world,
38. The higher he soars from lustful world, The more he reveals the truth of life. 78
39. Enriched with his spiritual sight, He looks on world as game of tricks,
He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with earthly things. 79
40. He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame,
Speaks some times for personal need, Yet soon forgets of what he speaks. 80
41. He is fast fixed within his self, Talking though, he does not talk,
Looking though, he does not look, Walking though he does not walk. 81
42. In ecstasy, self centered he, The world of senses does not heed,
Self alone in cosmic rhythm, Shines to him as holy film. 82

Yogi Enjoys a free Life.

43. Where settles one with love and ease, There he yearns to live in peace,
And where one gets his heart's content, He makes that place as permanent. 83
44. So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow,
He shuns the false, and loves the truth, He lives within, discards the show. 84
He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad,
His senses too get drawn within, He is not aware of outer things. 85

When no sensations come within, Desires cease to drag abroad,
Mind filled with charms divine, He gets free from worldly bonds. 86

Self Culture is the best Culture.

45. Alien, after all an alien, Is ever a source of ills and pains,
Self, being after all one's self, Is ever a source of joy and gain. 87
Sages are ever on their guard, Not to yield to alien matter,
They rather use its energies, To get relief of physical needs. 88
46. The fools who ever take delight, In claiming matter as their self,
Are ever, dragged as prisoners war, Through endless gates of births and deaths. 89
47. The ascetics with a content mind, Take their boats off noisy coast,
And anchoring them in peaceful self, Are filled with an immortal joy. 90
48. The fruits of actions piled within, In forms of varied trends, instincts,
From long, long immemorial times, Drive the self to sins and crimes. 91
But ascetics of the serene mind, Are not touched by the instincts piled,
They turn them into heap of ashes, By flash of concentrated light. 92

Summum Bonum of Life.

49. The glorious lustre, free from bonds, With perfect beauty, peace and joy,
Permeating all, compassing all, Forms the essence of divine soul. 93
This is the thing to be seen and asked, This is the thing to be ever yearned,
There is nothing greater, more sublime, This is the highest truth of life. 94

Brief Story of Truth.

50. Self is self, and matter is matter, The twain can never meet in one,
Their visible union is unreal, A work of foolish whims of self. 95
Egotism is the greatest devil, Which robs divinity of the self,
Confines its vast glorious heights, Into dark nasty physical cells. 96
To curb the sin of egotism, Life should be made to ever grow,
From low to high, from dark to light, From self-conceit to love of all. 97
This is in brief the story of truth, Conveyed to us by sages of yore,
So let us take this truth to heart, And make our lives free and vast. 98

Blessings.

51. Living at home, or in woods, Who pays his heed to these sermons,
And with the help of knowledge gained, Under all events keeps the same, 99
Mindless of honour and disgrace, Follows the path of love and grace,
Is sure one day to attain the goal, Of perfect and beauteous soul. 100

परिशिष्ट नं. ५

इष्टोपदेशके मूल श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका

परिशिष्ट नं. ६

इष्टोपदेशकी टीकामें उद्धृत श्लोकों, गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका।

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।

परिचय और निवेदन—स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर, महात्मा गान्धीजीके गुरुतुल्य **श्रीरायचन्द्रजीके** स्मारकमें यह ग्रंथमाला उनके स्थापित किये हुए **परमश्रुत-प्रभावकमंडलके** तत्त्वावधानमें ५५ वर्षसे निकल रही है. इसमें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वामी, श्रीसिद्धसेनदिवाकर, श्रीपूज्यपादस्वामी, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती, श्रीयोगीन्दुदेव, श्रीविमलदास, श्रीहेमचन्द्रसूरि, श्रीमल्लिषेण सूरि आदि आचार्योंके अतिशय उपयोगी ग्रंथ सुसम्पादित कराके मूल, संस्कृत टीकाएँ और सरल हिन्दीटीका सहित निकाले गए हैं। सर्वसाधारणमें **सुलभ मूल्यमें तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रन्थोंका प्रचार करना इसका मुख्य उद्देश्य है।** ग्रंथ छपाकर कमाई करनेका उद्देश्य इस शा० मा० का नहीं है। जो द्रव्य आता है, वह ग्रन्थोद्धारकार्यमें लगाया जाता है। हमारा यह उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जब पाठक अधिकसे अधिक द्रव्य भेजें, अथवा शास्त्रमालाके ग्रंथ खरीदकर जैनसाहित्योद्धारके काममें हमारी मदद करें; क्योंकि तत्त्वज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रभावनाका पुण्य-कार्य नहीं है। **आगामी प्रकाशन**-श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके सभी ग्रंथ, स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा मूलगाथायें भ० शुभचन्द्रकृत संस्कृतटीका और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत नई हिन्दी टीका, समाधिशतक और आप्तमीमांसा आदि कई ग्रन्थोंका सुसम्पादन हो रहा है और कई छप रहे हैं, जो समयानुसार निकलेंगे। शास्त्रमालाके सभी ग्रंथ सुन्दर मजबूत जिल्दोंसे मंडित हैं।

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक और पं० नाथूरामजीप्रेमीकृत हिन्दीटीका। इस ग्रन्थमें श्रावक-धर्मका विस्तृत वर्णन है। चौथी आवृत्ति संशोधित होके छपी है। अबकी बार ग्रंथकर्त्ताका परिचय, विषय-सूची और २ अनुक्रमणिकायें लगा दी हैं। २) पो. ।=)

२ **पंचास्तिकाय**—अप्राप्य है।

३ **ज्ञानार्णव**—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल और स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दीटीका, योगका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ। मू. ६) पो. १)

४ **सप्तभंगीतरंगिणी**—अप्राप्य।

५ **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—अप्राप्य

६ **गोम्मटसार कर्मकांड**—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मूल गाथायें और स्व० पं० मनोहरलालजीकृत हिन्दीटीका। सिद्धान्त-ग्रन्थ। मू. ३) पो. ।।।)

७ **गोम्मटसार जीवकांड**—अप्राप्य है, जल्दी छपेगा।

८ **लब्धिसार**—हिन्दीटीका सहित, अप्राप्य।

९ **प्रवचनसार**—अप्राप्य है, पुनः छपेगा।

१० **परमात्मप्रकाश और योगसार**—अप्राप्य है।

११ **समयसार**—श्रीकुन्दकुन्दस्वामीकृत, अप्राप्य है। पुनः संपादन संशोधन हो रहा है, जल्दी छपेगा।

१२ **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—अप्राप्य है।

१३ **स्याद्वादमंजरी**—श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत मूल कारिकायें, श्रीमल्लिषेणसूरिकृत संस्कृतटीका, डॉ० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी० कृत हिन्दीटीका सहित, न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। मू० ६) पो० १)

१४ **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-मोक्षशास्त्र**—श्रीउमास्वातिकृत सूत्रसूत्र संस्कृतटीका, पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत हिन्दी टीका। इसमें तमाम जैन तत्त्वोंका वर्णन है, सागरको गागरमें आचार्यश्रीने भर दिया है। मू० ३) पो० १)

१५ **पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत, अप्राप्य है।

१६ **उपदेशछाया और आत्मसिद्धि**—अप्राप्य है।

१७ **योगसार**—अप्राप्य है।

१८ **योगीन्द्र**—हिज परमात्मप्रकाश अंग्रेजी अप्राप्य।

१९ **श्रीमद्राजचन्द्र**—श्रीमद्राजचन्द्रजीके पत्रों और रचनाओंका अपूर्व संग्रह, अध्यात्मका अपूर्व और विशाल ग्रंथ है। म० गांधीजीकी प्रस्तावना है। पृष्ठसंख्या ९५० स्वदेशी कागजपर कलापूर्ण सुन्दर छपाई हुई है। मूल्य सिर्फ १०) पो० २)

२० **न्यायावतार**—श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृत। ५) पो. ।।)

२१ **प्रशमरतिप्रकरण**—श्रीउमास्वातिकृत ६) पो.।।=)

२२ **इष्टोपदेश**—जैनोपनिषद-आचार्य पूज्यपादस्वामीकृत। मू० १।।) पो० ।) अंग्रेजी टीका ।।।)

मिलनेका पता—

मैनेजर—परमश्रुतप्रभावक मंडल, (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

ठि० चौकसी चेम्बर, खाराकुवा, जौहरी बाजार, बम्बई नं० २.